UNIVERSAL
LIBRARY
OU_182900
UNIVERSAL
LIBRARY

OUP—67—11-1-68—5,000.

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H80·9 S24U   Accession No. P. G. H2437

Author सक्सेना, रामबाबू.

Title उर्दू साहित्य का इतिहास-1951.

This book should be returned on or before the date last marked below.

उर्दू साहित्य का इतिहास

भाग २

(गद्य-खण्ड)

मूल-लेखक
डा० रामबाबू सक्सेना
एम० ए०, डी० लिट्०

अनुवादक
श्री शालिग्राम श्रीवास्तव

१९५१
हिंदुस्तानी एकेडेमी
उत्तरप्रदेश, इलाहाबाद

प्रथम संस्करण :: १९५१ :: मूल्य २।)

Checked 1969

मुद्रक—देवीप्रसाद मैनी, हिन्दी साहित्य प्रेस, प्रयाग

वक्तव्य

उर्दू साहित्य के इतिहास का प्रथम खण्ड जिसमें पद्य मात्र की विवेचना है, एकेडेमी से प्रकाशित किया जा चुका है। यह उसी कृति का दूसरा खण्ड है जिसमें उर्दू गद्य के विकास का क्रमबद्ध निरूपण है।

उर्दू की गद्य-शैली बहुत निखरी हुई प्रवाहशील शैली मानी जाती है। उसके विकास में किन व्यक्तियों और किन प्रवृत्तियों का मुख्य भाग रहा, उपन्यासों, निबन्धों, नाटकों और पत्र-पत्रिकाओं में उर्दू गद्य ने कौन-कौन से रूप ग्रहण किये, इसका विस्तृत विवेचन इस खण्ड में है।

यह ग्रन्थ तथा इसका पूर्व भाग मिल कर उर्दू साहित्य के इतिहास का एक पूर्ण चित्र प्रस्तुत करते हैं और एक ऐसी कमी पूरी करते हैं जिसका हिन्दी क्षेत्र में बहुत दिनों से अनुभव किया जा रहा था।

धीरेन्द्र वर्मा
मन्त्री तथा कोषाध्यक्ष

विषय-सूची

अध्याय १

पृष्ठ संख्या

उर्दू गद्य का आरम्भ और उसका विकास— १–१६

उर्दू गद्य का देर में आरम्भ—१, दक्खिनी भाषा में उर्दू गद्य—१, दह मजलिस—२, नौतर्ज़ मुरस्सा—३, फ़ोर्ट विलियम कालेज में उर्दू गद्य का आरम्भ—४, गिलक्राइस्ट—५, मीर अम्मन—६, अफ़सोस—७, हुसैनी—६, हैदरी—६, जवान—११, निहालचन्द—१२, विला—१२, हफ़ीज़ुद्दीन अहमद—१३, इकराम अली—१३, लल्लूलाल जी—१४, बेनीनारायन—१४, मिर्ज़ा अली लुत्फ़—१४, अमानतुल्ला—१५, अन्य गद्य लेखक—१५, .कुरान के उर्दू अनुवाद—१६, मौलवी मुहम्मद इस्माइल देहलवी—१६, उर्दू के व्याकरण और कोश—१७, हिन्दुस्तानियों के लिखे कोश-व्याकरण—१८, उर्दू के हित में ईसाइयों का काम—१६।

अध्याय २

उर्दू गद्य का मध्यकालीन और आधुनिक युग— २०–८४

लखनऊ से प्रकाशित पुस्तकें—२०, बुस्ताने हिकमत—२०, सुरूर—२१, फ़िसाना अजायब—२२, अन्य पुस्तकें—२५, अलिफ़लैला के अन्य अनुवाद—२६, उर्दू गद्यकारों में सुरूर का स्थान—२६, ग़ालिब गद्य लेखक के रूप में—२७, उर्दू-ए-मुअल्ला और ऊदे-हिन्दी—२७, मिर्ज़ा की अलंकृत शैली—३१, गद्य लेखकों में मिर्ज़ा का स्थान—३१, सैयद अहमद का प्रभाव—३२, छापे का आरंभ—३३, सामयिक पत्र-पत्रिकायें—३४, सैयद अहमद खाँ—३५, सर सैयद की लेखन-शैली—३८, सर सैयद के सहयोगी मित्र—३८, मुहसिनुल मुल्क—३८, विक़ारुल मुल्क—४०,

चिराग़ अली—४१, आज़ाद—४२, रचनाएँ—४३, आबेहयात—४३, अन्य पुस्तकें—४५, अन्य रचनाएँ—४६, उर्दू गद्यकारों में आज़ाद का स्थान—४६, हाली—४७, रचनाएँ—४७, लेखन शैली—४६, मौलाना नज़ीर अहमद—५०, रचनाएँ—५१, कहानियां और उपन्यास—५१, नैतिक उपन्यास—५२, मौलाना के व्याख्यान—५४, कवि के रूप में—५४, मौलाना का व्यक्तित्व—५४, लेखन शैली—५५, मौलवी ज़का-उल्ला—५५, रचनाएँ—५५, मौलवी सैयद अहमद—५६, फरहंग आसफ़िया—५७, शिबली नोमानी—५८, आरम्भिक रचनाएं—५६, निदवतुल उल्मा—६०, दारुल मुसन्नफ़ीन—६२, मौलाना का सम्मान—६३, मौलाना का व्यक्तित्व—६३, रचनाएं—६३, इतिहासकार और समालोचक—६३, लेखनशैली—६४, सैयद सुलैमान नदवी—६५, मौलवी अब्दुस्सलाम नदवी—६६, मौलवी अब्दुल माजिद दरियाबादी—६६, दिल्ली कालेज की स्थापना—६७, प्रोफ़ेसर रामचन्द्र—६६, इमामबख्श सहबाई—७०, मौलवी ग़ुलाम इमाम शहीद—७१, ग़ुलाम ग़ौस बेख़बर—७१, शम्सुल उल्मा, सैयद अली बिलग्रामी—७२, सैयद हुसैन बिलग्रामी—७२, मौलवी अजीज़ मिर्ज़ा—७३, मौलवी अब्दुलहक़—७३, मौलवी वहीदुद्दीन सलीम—७४, शेख़ अब्दुल क़ादिर—७५, पं० मनोहरलाल ज़ुतशी—७६, मुंशी दयानारायन निगम—७७, लाला श्रीराम—७७, ख़ुमख़ाना ज़ावेद—७८, पं० बिशननारायन दर—७६, उर्दू की नवीन लेखन प्रणाली—८०, पहला ढंग—८०, दूसरी परिपाटी—८१, उर्दू के पुराने समाचारपत्र—८२, साहित्यिक उर्दू पत्रिकायें—८४।

अध्याय ३

उर्दू उपन्यास का आरम्भ— ८५-११५

उर्दू की पुरानी कहानियाँ—८५, कुछ पुरानी कहानियाँ—८५, नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ—८६, दास्तान अमीर हमज़ा—८७, बोस्तान ख़याल—८७, सुरूर—८८, मौलाना नज़ीर अहमद—८८, अवधपंच—८८,

मुंशी सज्जाद हुसैन—८६, मिर्ज़ा मच्छू बेग 'आशिक़'—६०, पं० त्रिभुवननाथ हिज्र—६१, नवाब सैयद मुहम्मद आज़ाद—६१, मुंशी ज्वालाप्रसाद बर्क़—६१, अहमद अली शौक़—६२, पं० रतननाथ 'सरशार'—६२, सरशार का व्यक्तित्व—६४, कृतियाँ—६५, फ़िसाना आज़ाद—६५, सरशार का चरित्र चित्रण—६७, विनोद—६६, त्रुटियाँ—६६, सरशार की विशेष शैली—१०१, सरशार और सुरूर की तुलना—१०१, मौलवी अब्दुल हलीम शरर—१०४, मिर्ज़ा महम्मद हादी रुसवा—१११, हकीम महम्मद अली—१११, राशिदुल ख़ैरी—११२, नियाज़ फ़तेहपुरी—११२, ख्वाज़ा हसन निज़ामी—११३, प्रेमचन्द—११३, सुदर्शन—११५, अन्य कहानी लेखक—११५।

अध्याय ४

उर्दू नाटक—　　　　११६–१३६

नाटक की व्यापकता—११६, संस्कृत और हिंदी नाटकों का उर्दू पर प्रभाव क्यों नहीं पड़ा ?—११७, संस्कृत नाटक—११८, हिन्दुओं के देवताओं के नाटक—११८, स्वांग और नक़लें इत्यादि—११६, मुसलमानी कवितायें और कहानियां—१२०, अंग्रेज़ी मंच—१२०, उर्दू नाटक का विवरण—१२०, उर्दू नाटक पर दरबारों का प्रभाव—१२१, अमानत की इन्दरसभा—१२२, उर्दू नाटक और पारसी—१२३, ओरिजिनल थियेट्रिकल कम्पनी—१२४, विक्टोरिया नाटक कम्पनी—१२४, तालिब बनारसी—१२५, अल्फ्रेड-थियेट्रिकल कम्पनी—१२५, अहसन लखनवी—१२५, बेताब देहल्वी—१२६, न्यू अल्फ्रेड कम्पनी—१२७, आगा हश्र काश्मीरी—१२७, अन्य कम्पनियां—१२८, उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त के नाटककार—१२६, बीसवीं शताब्दी के कुछ नाटककार—१२६, साहित्यिक राजनीतिक और सामाजिक नाटक—१३० उर्दू नाटक की उन्नति में और लोगों का भाग—१३१, आरम्भिक नाटकों की त्रुटियाँ—१३२, वर्तमान नाटकों में सुधार और उन्नति—१३४, सुधार और उन्नति की आवश्यकता—१३५, उर्दू नाटक का भविष्य—१३६।

अध्याय ५

उर्दू भाषा की विशेषताएँ— १३७–१४३

परिमार्जित और मधुर भाषा—१३७, हिन्दू-मुस्लिम मेल का चिन्ह—१३७, हिन्दुस्तान की सामान्य भाषा—१३७, विस्तृत भाषा—१३८, कुछ यूरोपियन विद्वानों की सम्मति—१३८, उर्दू का थोथापन—१३९, उर्दू साहित्य के विभाग—१४०, रचनाएँ—१४०, अनुवाद—१४१, धार्मिक साहित्य—१४२, साहित्य की उन्नति की संस्थाएँ—१४२, उर्दू लिपि—१४३।

अध्याय १

उर्दू गद्य का आरंभ और उसका विकास—कलकत्ते का फ़ोर्ट विलियम कालेज

उर्दू गद्य का सूत्रपात वस्तुतः कलकत्ते के फ़ोर्ट विलियम कालेज से हुआ। उत्तर भारत में उसके उन्नत न होने का विशेष कारण था, क्योंकि वहाँ फ़ारसी का रिवाज था। दरबारी और पढ़े-लिखे भले आदमियों की वही भाषा थी। पत्रव्यवहार फ़ारसी में होता था और पुस्तकों की प्रस्तावना और भूमिका सब फ़ारसी ही में लिखी जाती थीं। उर्दू कवियों के तज़किरे, जिनमें उनका कुछ वृत्तांत भी होता था, फ़ारसी में लिखे जाते थे। उर्दू गद्य आनुप्रासिक और अलंकृत, ज़हूरी और बेदिल के ढंग का, होता था, और लोग इसी प्रकार का गद्य लिखने के प्रेमी थे। प्रायः पद्य का रिवाज था। यहाँ तक कि चिट्ठियाँ भी उसी में लिखी जाती थीं; और इसी में लोगों को बड़ा गर्व होता था। इस प्रकार से गद्य का रूप भी एक प्रकार से पद्य जैसा ही था। इसी कारण साधारण गद्य के प्रचलन में विलंब हुआ; और इसी से उसका आरंभ उत्तर भारत और साहित्यिक केंद्र से दूर हुआ।

उर्दू गद्य का देर में आरंभ

भाषा-संबंधी खोज और अनुसंधान करने वाले विद्वानों ने दक्षिण के प्राचीन गद्य के अनेक नमूने खोज निकाले हैं। यह काम अब तक जारी है और आशा की जाती है कि कुछ दिनों में उर्दू गद्य के इतिहास की प्रचुर सामग्री हाथ आ जायगी। इस कार्य मे मौलवी अब्दुल हक़ और हकीम शम्सुल्लाह क़ादिरी के उद्योग सराहनीय हैं। जहाँ तक पुराने नमूने अब तक मिले हैं, उन से आठवीं शताब्दी हिजरी से उर्दू गद्य का आरंभ होना पाया जाता है। यह नमूने छोटी-छोटी पुस्तकों में हैं, जिनमें दक्षिण और गुजरात के मुसलमान फ़क़ीरों की उक्तियों का

दक्खिनी भाषा में उर्दू गद्य

उल्लेख है। ये लघु पुस्तकें, बहुधा फ़ारसी और अरबी किताबों के अनुवाद हैं और धार्मिक रंग में रँगी हुई हैं। जैसे शेख़ ऐनुद्दीन गंजुलइल्म (मृत्यु, ७९५ हि०) की पुस्तकें और हज़रत ख्वाजा गेसू दराज़ गुलबर्गवी कृत 'मेराजुल आशक़ीन' जो यद्यपि साहित्यिक रचनाएँ नहीं कही जा सकतीं, फिर भी उनसे उस समय की भाषा का ज्ञान होता है। इसी प्रकार सैयद मुहम्मद अलहुसैनी ने शेख़ अब्दुल क़ादिर जीलानी की पुस्तक निशातुल इश्क़ का दक्खिनी उर्दू में अनुवाद किया। शाह मीरान जी शम्सुल उश्शाक़ बीजापुरी ने 'शरह मरग़ूबुल क़ुलूब' लिखी और उनके पुत्र शाह बुरहानुद्दीन जानम (मृत्यु, ९९० हि०) ने अनेक पुस्तकें लिखीं जिनमें से दो के नाम 'जलतरंग' और 'गुलबास' हैं। मौलाना वजही की 'सबरस' १०४५ हि० में लिखी गई, जिसका चर्चा पद्य-खंड में हो चुका है। मीरान याक़ूब ने 'शुमायल इत्क़िया बदलातुल इत्क़िया' का उर्दू अनुवाद सरल दक्खिनी भाषा में १०७८ हि० में किया। सैयद शाह महम्मद क़ादिरी ने भी, जो औरंगज़ेब के समय में थे, और रायचूर के नूर दरिया परिवार के थे, अनेक धार्मिक पुस्तकें लिखीं। ग्यारहवीं शताब्दी में सैयद शाहमीर ने भी एक धार्मिक पुस्तक 'इसरारुल तौहीद' के नाम से दक्खिनी में लिखी।

इसके पूर्व कि दक्खिनी उर्दू उत्तर भारत में आए, यहाँ भी कुछ गद्य में पुस्तकें लिखी गईं, जो अधिकांश क़िस्से-कहानियों की थीं अथवा धार्मिक थीं, और फ़ारसी से अनूदित हुई थीं। इन्हीं में फज़ली कृत 'दह मजलिस' है, जो महम्मदशाह के समय में १७३२ ई० में लिखी गई। यह पुस्तक मुल्ला हुसैन वाइज़ की फ़ारसी पुस्तक 'रौज़तुल शोहदा' का अनुवाद है। फ़ज़ली ने इसकी भूमिका में लिखा है कि मेरी बड़ी इच्छा थी कि यह पुस्तक बहुत सरल भाषा में, जैसी उस समय प्रचलित थी, लिखी जाय, पर वह धार्मिक पुस्तक थी; और मेरे सामने पहले का कोई नमूना न था, अतः इसके लिखने में मुझे बहुत संकोच था। इसी दशा में स्वप्न में हज़रत इमाम हुसैन ने मुझे दर्शन दिया, और मेरी कठिनाई को दूर करके मेरी सहायता की। फ़ज़ली शिया था। उसने इमामों की प्रशंसा में कुछ पद्य और मरसिये भी लिखे थे, परंतु वे प्रसिद्ध नहीं हुए।

'दह मजलिस' १७३२ ई०

'दह (दस) मजलिस', जिसमें वस्तुतः बारह मजलिसें हैं, उर्दू गद्य की पूरी किताब तो नहीं कही जा सकती, अलबत्ता तत्कालीन उर्दू गद्य का एक नमूना अवश्य है। इसकी लेखनशैली में कच्चापन है, जैसा कि हरेक आरंभिक कृति में हुआ करता है। वाक्य जटिल, बनावटी और आनुप्रासिक हैं। इसी प्रकार उस समय के उर्दू-गद्य का एक संक्षिप्त नमूना सौदा के 'कुल्लियात' के आरंभ में है, जिसमें वर्तमान काल के व्याकरण के नियमों का बिल्कुल ध्यान नहीं रक्खा गया है, केवल तुकांत वाक्य रख दिए गए हैं, जो उपमाओं और रूपकों से भरे हुए हैं। केवल गति न होने से उनको गद्य कहा जा सकता है, नहीं तो इसमें और पद्य में कोई अंतर नहीं है।

इन्शा और क़तील की 'दरियाय-लताफ़त' फ़ारसी पद्य में है, पर बहुत ही रोचक है। उसमें उस समय के विविध व्यवसायिओं की बोलियाँ, विविध रस्मो-रिवाज और मामूली बोल-चाल तथा प्रचलित कहावतें और दिल्ली और लखनऊ की भाषा का भेद, अप्रचलित शब्द तथा विविध प्रदेश की बोलियों का दिल्ली और लखनऊ में सम्मिलित होने से प्रभाव आदि का वर्णन है।

दूसरी प्रसिद्ध पुस्तक उस समय की 'नौतर्जमुरस्सा' है जिसको मीर महम्मद अताहुसैन ख़ां 'तहसीन' ने अमीर ख़ुसरो के क़िस्सा 'चहार दुरवेश' से उर्दू में अनुवाद किया था। यह नवाब शुजाउद्दौला के समय में पूरी हुई, जिनकी प्रशंसा में एक क़सीदा भूमिका के अंत में है। अनुवादक 'मुरस्सा रक़म' की उपाधि से प्रसिद्ध थे। यह महम्मद बाक़र ख़ां 'शौक़' के बेटे थे और नवाब सफ़दरजंग के दरबार से उनका संबंध था। फिर वह जनरल स्मिथ के मीरमुंशी होकर इनके साथ कलकत्ते गए। जब साहब विलायत चले गए, तब तहसीन पटना में आकर वकालत करने लगे। अपने बाप के मरने पर वह फ़ैज़ाबाद आ गए, और यहाँ नवाब शुजाउद्दौला के यहाँ नौकर होकर आसफ़ुद्दौला के समय तक रहे। वह सुलेखक होने के अतिरिक्त अच्छे मुंशी भी थे। उन्होंने फ़ारसी में 'ज़वाबित अँग्रेज़ी' जो उस समय के भारत सरकार के क़ानून का संग्रह था, और 'तवारीख़ क़ासिमी' लिखी।

'नौतर्ज़मुरस्सा' १७६८

'नौतर्ज़मुरस्सा' की शैली बहुत अलंकृत और फ़ारसी-अरबी शब्दों से से भरी हुई है। शायद यही कारण है कि डा० गिलक्राइस्ट ने उसका दूसरा

सरल और साफ़ उर्दू अनुवाद मीर अम्मन देहलवी से कराया, जिसका विस्तृत वृत्तांत आगे लिखा जायगा।

फ़ोर्ट विलियम कालेज में उर्दू गद्य का आरंभ

अँग्रेज़ों ने व्यापारिक संबंध के सिलसिले में हिंदुस्तान के बड़े-बड़े भू-भाग प्राप्त कर लिए थे, जिनके सुप्रबंध के लिए यह आवश्यक था कि उनके कर्मचारी वहां की भाषा को अच्छी तरह जान जायँ। व्यापारिक संबंध धीरे-धीरे कम होने लगा, लेकिन प्रबंध का काम बढ़ता जाता था। दुभाषिये, जिनके द्वारा यहां की भाषा अँग्रेज़ कर्मचारी समझ सकते थे, अब बेकार होगए, क्योंकि यह विचार पैदा होगया था कि कोई जाति, जब तक अपनी प्रजा की भाषा, रस्मोरिवाज और उनके ऐतिहासिक और धार्मिक बातों से अच्छी तरह जानकार न हो, उन पर पूरे तौर से शासन नहीं कर सकती। इसलिए यह आवश्यक था कि हाकिम अपनी प्रजा की भाषा सीखें। फलतः जान कंपनी के कोर्ट आव् डाइरेक्टर ने यह देखकर कि उनके कर्मचारी हिंदुस्तान में अपना कर्त्तव्य, केवल देशी भाषाओं के न जानने के कारण, बहुत ही बुरी तरह से पालन करते हैं, यह हुक्म जारी किया कि उनके कर्मचारियों को देशी भाषायें अवश्य जानना चाहिये। इसी के साथ इस देश के बड़े-बड़े भू-भाग अँग्रेज़ी राज्य में सम्मिलित होते जाते थे, अतः पार्लियामेंट को यह अनुभव होने लगा कि प्रजा के लाभ और शिक्षा की उन्नति का उत्तर-दायित्व भी उस पर ही है। अब इस बात का उद्योग होने लगा कि शिक्षा-प्रचार में जो रुकावट गृहयुद्ध और मुल्की लड़ाइयों के कारण हो गई थी, दूर कर दी जाय। इसी विचार के आधार पर अँग्रेज़ी शिक्षा आरंभ हुई, जिससे लोगों के विचारों और भाषा में घोर परिवर्तन हुआ। इसका प्रभाव कहीं पद्य और कहीं गद्य पर भी हुआ। सारांश यह है कि अँग्रेज़ी शिक्षा ने इस देश के लिये वही किया जो अब से पाँच-छः सौ वर्ष पहले यूरोप में 'रेनांसां' (पुनर्जागृति) ने किया था। यह स्वाभाविक नियम है कि हर अच्छाइयों के साथ कुछ बुराइयाँ भी आ जाती हैं। लेकिन इस दशा में अच्छाइयों का पल्ला भारी रहा; अर्थात् इससे देशी भाषाओं को अधिक लाभ पहुँचा।

डा० जान गिलक्राइस्ट जो उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ में फ़ोर्ट

विलियम कालेज कलकत्ता के मुख्य अधिष्ठाता थे, उर्दू गद्य के पोषक कहलाने के अधिकारी हैं। उन्हीं के अनथक उद्योग से उर्दू परिपूर्ण होकर फ़ारसी के स्थान में सरकारी भाषा बनने योग्य हुई। उक्त डाक्टर साहब स्काटलैंड के निवासी थे। १७५६ ई० में एडिन्बरा में पैदा हुए। अपने नगर के जार्ज हैरियट के अस्पताल में शिक्षा

गिलक्राइस्ट १७५६-१८४७

पाकर १७८३ ई० में ईस्ट इंडिया कंपनी के यहां डाक्टरी के पद पर नौकर हो गए। आरम्भ ही से उनका पक्का विचार था कि अँग्रेज़ी अफ़सरों को हिंदुस्तान में फ़ारसी जानने की इतनी आवश्यकता नहीं है, जितनी देशी भाषाओं की, विशेषतया हिन्दुस्तानी की, जो उस समय हर प्रकार के लोगों के मेल-जोल की सबसे प्रसिद्ध भाषा समझी जाती थी। वह स्वयं इस ओर अग्रसर हुए। उनके विषय में लिखा है कि वह हिंदुस्तानी कपड़े पहन कर उन स्थानों में घूमा करते थे, जहाँ मुहावरेदार शुद्ध उर्दू बोली जाती थी। इसके अतिरिक्त वह संस्कृत, फ़ारसी और अन्य पूर्वीय भाषाओं के भी ज्ञाता थे। उनकी सफलता को देखकर कंपनी के अन्य कर्मचारियों को भी उर्दू सीखने का शौक हुआ। सारांश यह कि अंग्रेज़ों में उसी समय से उर्दू पढ़ने का रिवाज हुआ। तत्कालीन गवर्नर-जनरल लार्ड वेलेज़ली ने इस योजना के महत्व और ज़रूरत को समझ कर तथा गिलक्राइस्ट के कामों का उपयोगी परिणाम देखकर, उनको बहुत आर्थिक सहायता दी, और उनको फ़ोर्ट विलियम कालेज का उच्च पदाधिकारी नियुक्त कर दिया। यह कालेज १८०० ई० में स्थापित हुआ था। इसका उद्देश्य यह था कि कंपनी के अंग्रेज़ नौकरों को देशी भाषाओं की शिक्षा दी जाय। गिलक्राइस्ट साहब बहुत दिनों तक अपनी इस जगह पर न रह सके। बीमारी के कारण १८०४ ई० में पेंशन लेकर विलायत चले गए। उनको उर्दू से इतना प्रेम था कि १८१६ ई० में एडिंबरा से लंदन आ गए, जहाँ सिविल सरविस के उम्मीदवारों को निजी तौर पर पूर्वीय भाषाओं की शिक्षा दिया करते थे। १८१८ ई० में वह ओरियंटल इंस्टीच्यूट में उर्दू भाषा के प्रोफ़ेसर हो गए, जिसको उस वर्ष कम्पनी ने लंदन में स्थापित किया था। लेकिन वह संस्था १८२५ ई० में बंद हो गई। उसके बाद भी वह लगभग एक वर्ष तक, जो चाहते थे उन्हें निजी तौर पर उर्दू सिखलाते रहे

और फिर अपने स्थान पर मि० सेंडफ़ोर्ड आरनो और डंकम फ़ौरबेस को नियत कर गये। गिलक्राइस्ट का देहांत ८२ वर्ष की अवस्था में पेरिस में १८४१ ई० में होगया। उन्होंने अनेक पुस्तकें हिंदुस्तानी भाषा के सम्बन्ध में लिखी हैं, जिनकी पूरी सूची डाक्टर गियर्सन के लिंग्विस्टिक सर्वे आव् इंडिया की नवीं जिल्द में दी हुई है। उनकी कुछ प्रसिद्ध पुस्तकें ये हैं:—

(१) अंग्रेज़ी-हिंदुस्तानी डिक्शनरी (१७६३ ई०); (२) ओरियंटल लिंग्विस्टिक्स जो हिंदुस्तानी भाषा की एक सरल प्रस्तावना है (१७६८ ई०); (३) हिंदुस्तानी ग्रामर (१७६६ ई०); (४) हिंदुस्तानी फ़ाइलालोजी।

गिलक्राइस्ट ही के सुप्रबंध में अनेक हिंदुस्तानी विद्वान कालेज में नियुक्त हो गए थे, जिन्होंने न केवल अँग्रेज़ों के लिए पाठ्यपुस्तकें लिखीं, किंतु उर्दू हिन्दी में अनेक स्थायी उच्चकोटि की पुस्तकों का निर्माण किया। मुग़ल राज्य के नष्ट होने के पश्चात् कुछ प्रसिद्ध भाषाविज्ञ और लेखक अपना घर छोड़ कर, गिलक्राइस्ट का उदारता-पूर्वक संरक्षण सुनकर, कलकत्ते पहुँचे, वहाँ उनको उक्त कालेज में जगह मिल गई। डा० गिलक्राइस्ट के साथ कप्तान रोब्रक, कप्तान टेलर और डा० हंटर इत्यादि की भी सेवाएँ प्रशंसनीय हैं। डा० गिलक्राइस्ट के समय में जो प्रसिद्ध हिंदुस्तानी लेखक वहाँ एकत्रित हो गए थे, उनके नाम ये हैं:—मीर अम्मन, अफ़सोस, हुसैनी, लुत्फ़, हैदरी, जवान, लल्लूलालजी, निहालचन्द, इकराम अली विला, सैयद मुहम्मद मुनीर, शेर अली अफ़सोस और मदारीलाल गुजराती।

मीर अम्मन उपनाम 'लुत्फ़' दिल्ली निवासी थे। उनके पूर्वज हुमायूँ के समय से जागीर और पेंशन पाए हुए थे। अहमद शाह दुर्रानी के हमले में मीर अम्मन का घर भी लुट गया और उनकी जागीर पर सूरजमल जाट ने अधिकार कर लिया। इस दुर्घटना से मीर अम्मन दिल्ली से भाग कर पटने पहुँचे। फिर वहाँ कुछ समय तक रहकर कलकत्ते चले गए, जहाँ नवाब दिलावरजंग के छोटे भाई मीर महम्मद काज़िम खां के शिक्षक नियत हो गये। उन्हीं दिनों मीर बहादुर अली हुसैनी ने उनका परिचय डा० गिलक्राइस्ट से करा दिया, जिनकी आज्ञा से उन्होंने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'चहार दुरवेश' लिखी। उसका तारीख़ी नाम 'बाग़ो बहार' है, जिसके अक्षरों की निश्चित

मीर अम्मन

संख्या के योग से १२१७ हिजरी निकलता है, जो उसका रचनाकाल था।

मूल पुस्तक अमीर ख़ुसरो ने फ़ारसी में अपने गुरु निज़ामुद्दीन औलिया की बीमारी की दशा में उनके दिल-बहलाव के लिए लिखी थी। कहा जाता है कि जब उक्त औलिया साहब नीरोग हो गए, तब उन्होंने यह आशीर्वाद दिया था कि जो बीमारी में इस कहानी को सुनेगा, वह स्वस्थ हो जायगा। इस क़िस्से को फ़ारसी में लोगों ने बहुत पसंद किया। तहसीन और मीर अम्मन के इसके उर्दू अनुवाद तथा अन्य भाषांतर, जो इस देश के तथा विदेशी भाषाओं में हुए, बहुत सर्वप्रिय हुए। यह पुस्तक १८०१ ई० में समाप्त हुई। तहसीन के अनुवाद में अपरिचित-फ़ारसी अरबी शब्दों की भरमार थी। मीर अम्मन ने उनको निकाल कर बहुत ही सरल मुहावरेदार भाषा में संशोधित अनुवाद किया। सैयद अहमद खां कहते थे कि जो स्थान मीर तक़ी का पद्य में था, वही मीर अम्मन का गद्य में है। यह कहानी न केवल रोचक है, किंतु उस समय के रीति नीति तथा रहन-सहन के ढंग का चित्र है। भूमिका में अनुवादक ने पुस्तक लिखने का कारण और अपना हाल लिखकर उर्दू भाषा का एक संक्षिप्त इतिहास भी लिखा है, जो अधिक शुद्ध नहीं है।

यह विचित्र बात है कि 'बाग़ोबहार' को अँग्रेज़ों ने बहुत पसद किया। वह अँग्रेज़ हाकिमों की उर्दू परीक्षा के लिए पाठ्यपुस्तक रही है। इसके अतिरिक्त मीर अम्मन ने मुल्ला हुसैन वाइज़ काशफी की 'इख़लाक़ मुहसिनी' के ढंग पर एक पुस्तक 'गंजीनए ख़ूनी' लिखी है। मुंशी करीमुद्दीन का अनुमान है कि उनका कोई दीवान भी रहा होगा, पर उसका पता नहीं है। ड० फ़ैलन ने स्वयं अम्मन की ज़बानी सुना था, कि वह कविता में किसी के शिष्य न थे।

मीर शेर अली देहलवी उपनाम 'अफ़सोस' मीर मुज़फ़्फ़र अली खां के बेटे थे, जो नवाब मीर क़ासिम के यहां शस्त्रागार के दारोगा थे। यह इमाम जाफ़र सादिक़ के वंश से थे। इनके पूर्वज अरब में ख़ाफ़ के निवासी थे। उनमें एक सैयद बदरुद्दीन नारनौल में आकर, जो आगरे के निकट है, रहने लगे। मुहम्मद शाह के समय में अफ़सोस के बाप और चचा ग़ुलाम अली खां आगरे से दिल्ली चले गए और नवाब अमीर ख़ां के यहाँ एक बड़ी तनख्वाह पर नौकरी कर ली। अफ़-

अफ़सोस
१७३५-१८०६

सांस वहीं दिल्ली में पैदा हुए। १७४६ ई० में जब अमीर ख़ां का देहांत हो गया, तो अफ़सोस पटना चले गए, जहाँ नवाब मीर क़ासिम और उनके पश्चात् नवाब मीर जाफ़र के यहाँ नौकरी करते रहे। जब मीर जाफ़र गद्दी से उतारे गए तो वह लखनऊ चले आए और वहाँ से हैदराबाद गए, जहाँ उनकी मृत्यु हो गई।

अफ़सोस भी पिता के साथ पटने से लखनऊ आये थे, जहाँ उस समय कविता का ख़ूब चर्चा था। अतः उन्होंने भी कविता करना आरंभ कर दिया। वह पहले अपनी रचना मीर हैदर अली 'हैरान' को दिखलाते थे, पर कुछ लोग कहते हैं कि मीर हसन, मीर तक़ी और मीर सोज़ से संशोधन कराते थे। लखनऊ में उनका संरक्षण नवाब सालारजंग और उनके पश्चात् उनके बेटे नवाब मिर्ज़ा निवाज़िश अली ख़ां करते रहे। जब वह लखनऊ में थे तो नवाब हसन रज़ाख़ां नायब नवाब आसफ़ुद्दौला के द्वारा अफ़सोस कर्नल स्काट साहब से मिले। उन्होंने उनकी योग्यता और प्रतिभा से प्रभावित होकर दो सौ रुपया महीने पर उन्हें कलकत्ते भेज दिया और पाँच सौ रुपया मार्ग-व्यय के लिए दिया। वह कलकत्ता पहुँच कर फ़ोर्ट विलियम के दफ़्तर में एक बड़े पद पर नियत हो गए। वहाँ उन्होंने 'गुलिस्ताँ' का उर्दू अनुवाद 'बाग़-उर्दू' के नाम से किया, जो १८०२ ई० में छपा और लोगों ने उसका बहुत आदर किया। फिर १८०४ ई० में उन्होंने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'आराइशे महफ़िल' लिखना आरंभ किया, जिसमें हिन्दुस्तान का भौगोलिक वर्णन और मुसलमानों के आने तक हिन्दू राजाओं का एक संक्षिप्त इतिहास भी दिया। इसकी रचना में अनेक इतिहासों से सहायता ली गई है, लेकिन इसका मूल स्रोत मुंशी सुजान राय पटियालवी का 'ख़ुलासतुत्तवारीख़' है। इससे अतिरिक्त उन्होंने मीर बहादुर अली की 'नस्र बेनज़ीर', मुंशी इज़्ज़तुल्ला की 'मज़हबे इश्क़' और मौलवी मुहम्मद इस्माइल की 'बहार दानिश' के लिखने में सहायता दी थी। इनके सिवा 'कुल्लियात सौदा' का संपादन करके उन्होंने छपवाया था। उनका एक दीवान भी है। १८०९ ई० में उनका देहांत हो गया।

मीर बहादुर अली हुसैनी का विस्तृत वृत्तांत मालूम नहीं हो सका इतना पता है कि वह फ़ोर्ट विलियम कालेज में मीरमुंशी थे। उन्होंने निम्न

पुस्तकें लिखी थीं।

(१) इख़लाक़ हिन्दी। यह डा० गिलक्राइस्ट की आज्ञा से १८०२ ई० में लिखी गई है। यह हितोपदेश के एक फ़ारसी भाषांतर 'मुफ़र्रहुल क़ुलूब' का सरल उर्दू अनुवाद है। फ़ारसी की पुस्तक शाह नसीरुद्दीन बिहारी के हुक्म से मुफ़्ती ताजुद्दीन ने लिखी थी।

हुसैनी

(२) नस्र बेनजीर—जो गद्य में मसनवी मीरहसन की कहानी है। यह १८०२ ई० में लिखी गई थी और १८०३ ई० में प्रकाशित हुई।

(३) रिसाला गिलक्राइस्ट—गिलक्राइस्ट साहब के व्याकरण का सार। उर्दू व्याकरण के विषय में १८१६ ई० में मुद्रित।

(४) शहाबुद्दीन ताबिश के 'तारीख़ आसाम' का अनुवाद, जिसमें औरंगज़ेब के जनरल मीर जुमला के १६६२ ई० में आसाम पर आक्रमण का वर्णन है। कोलब्रुक साहब के हुक्म से इसका संकलन हुआ था।

इनके अतिरिक्त 'क़िस्सा लुक़मान' और क़ुरान के एक अनुवाद में भी हुसैनी ने सहायता की थी।

सैयद हैदर बख़्श हैदरी सैयद अबुलहसन के बेटे थे और दिल्ली के निवासी थे। इनके पूर्वज नजफ़ के रहने वाले थे। इनके पिता लाला सुखदेवराय के साथ बनारस जाकर रहे, बनारस में उस समय 'तज़किरा गुलज़ार इब्राहीम' के कर्ता, नवाब इब्राहीम अली ख़ां जज थे। हैदरी उनके साथ कर दिए गए। उन्होंने धार्मिक पुस्तकें मौलवी ग़ुलाम हुसैन ग़ाज़ीपुरी से पढ़ीं, जो उक्त जज साहब की कचहरी में एक बड़े मौलवी थे। १८०० ई० में यह सुनकर कि फ़ोर्ट विलियम कालेज में मुंशियों की माँग है, हैदरी ने एक पुस्तक, 'क़िस्सा मिह्रोमाह', १२१४ हि० में लिखकर, डा० गिलक्राइस्ट के पास भेजी, जिसको उन्होंने बहुत पसंद किया और इनको बुलाकर वहाँ के मुंशियों में भरती कर लिया। इनकी बहुधा पुस्तकें फ़ारसी से अनुवादित हैं, जिनमें से प्रसिद्ध ये हैं :—

हैदरी

(१) क़िस्सा लैला-मजनूं—यह अमीर ख़ुसरो की मसनवी का अनुवाद है।

(२) तोता कहानी—सैयद मुहम्मद क़ादिरी के फ़ारसी 'तूतीनामा' का

अनुवाद, जो डा० गिलक्राइस्ट की आज्ञा से १८०१ ई० में किया गया था। मूलकथा संस्कृत में 'शुकसप्तति' के नाम से थी अर्थात् तोते की सत्तर कहानियां। फ़ारसी में पहले १२३० ई० हि० में ज़ियाय बख्शी ने इसकी बावन कहानियों का अनुवाद किया था। इसी में से महम्मद क़ादिरी ने पैंतीस कहानियां चुनकर १७६३-६४ ई० में और स्पष्ट करके लिखी थीं। 'तोता कहानी' उसी का उर्दू अनुवाद है। ये सब क़िस्से किंग आर्थर की अँग्रेज़ी कहानियों की तरह हिन्दुस्तान में बहुत सर्वप्रिय हुए, और इनके अनुवाद विविध समय में विविध भाषाओं में हुए। जैसे १८७५ ई० में इस्माइल साहब ने अँग्रेज़ी में और १८०६ ई० में चंडीचरण साहब ने बँगला में 'तोता इतिहास' के नाम से किया। हिन्दी में अम्बाप्रसाद 'रसा' ने, दक्खिनी पद्य में ग़ौव्वासी ने, और गद्य में किसी अज्ञात ने, हिन्दी में मूल संस्कृत से भैरोप्रसाद ने, गुजराती पद्य में समलभट्ट ने और मराठी में किसी अज्ञात ने इसको भाषांतरित किया।

(३) आराइशे-महफ़िल (अफ़सोस की आराइशे महफ़िल से भिन्न)—यह हातिमताई के क़िस्से का अनुवाद है जो पहले-पहल १८०२ ई० में कलकत्ते में छपा था। इसकी भाषा बड़ी सरल और रोचक है। इसका भाषान्तर भी हिंदी और गुजराती में हो गया है।

(४) तारीख़ नादिरी—यह मिर्ज़ा मेंहदी के १२२४ ई० में लिखित 'नादिरनामा' का अनुवाद है।

(५) गुले-मग़फ़रत—यह 'गुलशने शहीदान' का सार है, जो मुल्ला हुसैन वाइज़ काशफ़ी के 'रौज़तुल शोहदा' का अनुवाद है। इसका दूसरा नाम 'दह मजलिस' है। यह १८१८ ई० में लिखा गया और कलकत्ते में छपा। इसका भाषांतर फ़्रेंच में भी हो गया है।

(६) गुलज़ार दानिश—यह शेख़ इनायतुल्ला के 'बहार दानिश' का अनुवाद है, जिसमें त्रियाचरित्र की कहानियाँ हैं।

(७) हफ्तपैकर—यह निज़ामी की इसी नाम की मसनवी का जवाब है जो १८०५ ई० में लिखा गया था।

इनके अतिरिक्त कुछ मरसिये, एक दीवान ग़ज़लों का, और सौ कहानियों का भी संग्रह है।

हैदरी की मृत्यु १८२३ ई० में हुई, जैसा कि डा० स्प्रेंगर ने अवध की पुस्तकों की सूची में लिखा है।

मिर्ज़ा काज़िम अली 'जवान' मूलनिवासी तो दिल्ली के थे, लेकिन लखनऊ में रहने लगे थे, जहाँ वह १७८४ ई० में मौजूद थे। इनका चर्चा नवाब अली इब्राहीम खाँ ने अपने तज़किरा 'गुलजार इब्राहीम' में किया है, जिनके पास इन्होंने अपनी कुछ रचना नमूने के तौर पर भेजी थी। १८०० ई० में कर्नल स्काट ने इनको मुंशी की एक जगह देकर कलकत्ते भेजा। मुंशी बेनीनरायन ने अपने 'तज़किरा जहान' पुस्तक में, जो १८१४ ई० की लिखी हुई है, लिखा है कि यह उस समय जीवित थे, बल्कि १८१५ ई० में कलकत्ते के फ़ोर्ट विलियम कालेज के मुशायरे में मौजूद थे। इनकी निम्नलिखित पुस्तकें हैं :—

जवान

(१) कालिदास की शकुंतला का उर्दू अनुवाद, जिसकी भूमिका में लिखते हैं कि मूल पुस्तक का अनुवाद ब्रजभाषा में १७१६ ई० में फ़र्रुख़सियर के सेनापति ख़ुदाई खां के पुत्र मौलाखाँ की आज्ञा से एक निवाज़ कबीश्वर नामक कवि ने किया था। डा० गिलक्राइस्ट की आज्ञा से अनुवाद ब्रजभाषा से उर्दू में १८०१ ई० में किया गया और इसका संशोधन लल्लूलालजी कवीश्वर ने किया। यह पुस्तक १८०२ ई० में कलकत्ते में छपी।

(२) क़ुरान का उर्दू अनुवाद—गिलक्राइस्ट साहब की आज्ञा से।

(३) सिंहासनबत्तीसी—जिसके अनुवाद में लल्लूलालजी भी सम्मिलित थे।

(४) तारीख़ फ़रिश्ता का अनुवाद—बहमनीवंश के संबंध में।

(५) बारहमासा या दस्तूर-हिन्द, १८१२ ई० में कलकत्ते में मुद्रित, जिसमें हिन्दुस्तान की ऋतुओं और हिन्दू-मुसलमानों के त्यौहारों का वर्णन है।

'जवान' ने 'ख़िरद अफ़रोज़' (जिसका वर्णन आगे किया जाता है) और मीर व सौदा की कविता के कुछ चुने हुए पद्य प्रकाशित किए थे। उनके दो बेटे 'अयां' और 'मुमताज़' भी कुछ प्रसिद्ध हुए।

निहालचंद लाहौरी पैदा तो दिल्ली में हुए, पर लाहौर में अधिक रहे। १८१७ ई० में कलकत्ते गए। इनका और कुछ हाल मालूम नहीं हुआ,

सिवा इसके कि अपनी पुस्तक 'मज़हबे इश्क़' की भूमिका में स्वयं लिखते हैं कि कप्तान वेलबर्ट ने उनका परिचय डा० गिलक्राइस्ट से कराया, जिनकी आज्ञा से उन्होंने 'ताजुलमलूक' और 'बकावली की कहानी' का फ़ारसी से उर्दू में अनुवाद किया। 'मज़हब इश्क़' तारीख़ी नाम है। इसको इज्ज़तुल्ला बंगाली ने ११२४ हि० में फ़ारसी में लिखा था, उसी का यह उर्दू भाषांतर है। एक दूसरा उर्दू पद्यबद्ध अनुवाद किसी रैहां नामे ने १२१२ हि० में चालीस अध्यायों में 'गुलगश्त' के नाम से किया है। एक और उर्दू मसनवी इसी कहानी की 'तहफ़तुल मजलिस' के नाम से १०५३ हि० की है, और इससे भी एक पुरानी पुस्तक दक्खिनी भाषा में १०३५ हि० की है। लेकिन इन सब से अधिक प्रसिद्ध इस कहानी का अनुवाद मसनवी 'गुलज़ार नसीम' है, जिसका चर्चा पद्य-भाग में किया गया है। 'मज़हबे इश्क़' १८१३ ई० में लिखी गई थी।

निहालचंद

मिर्ज़ा लुत्फ़ अली उपनाम मज़हर अली ख़ां 'विला', सुलैमान अली ख़ां विदाद के बेटे दिल्ली के रहने वाले थे। मिर्ज़ा जान 'तपिश' और मुसहफ़ी के शागिंद थे। 'गुलशन बेख़ार' में उनको मीर निज़ामुद्दीन का भी शिष्य लिखा है। यह भी कालेज के मुंशियों में थे। इन्होंने अनेक पुस्तकों के अनुवाद किए हैं :—

विला

(१) सादी के पंदनामा का उर्दू पद्य में अनुवाद (१८०२ ई०)

(२) नासिर अली ख़ां बिलग्रामी वास्ती के 'हफ्त गुलशन' का अनुवाद, जो नीति और उपदेश की पुस्तक है, और सात अध्यायों में है। इसमें नीति-संबंधी कहानियाँ, वार्तालाप के नियम, बड़ों का आज्ञापालन और कुछ हदीस तथा हज़रत अली की उक्तियों का उल्लेख है।

(३) मोतीराम कवीश्वर-कृत 'माधवानल और कामकन्दला' की कहानी का ब्रजभाषा से उर्दू अनुवाद जो १८०१ ई० में किया गया था।

(४) सूरत कवीश्वर की 'बैतालपचीसी' का भाषा से उर्दू अनुवाद, जिसमें लल्लूलालजी ने सहायता दी थी। इसमें किसी बैताल (भूत) ने पच्चीस कहानियाँ राजा विक्रमादित्य के सामने कही थीं। हिन्दुस्तानी जनता ने इसको बहुत पसंद किया, यद्यपि इसकी रचना में कोई साहित्यिक चमत्कार नहीं है।

(५) तारीख़-शेरशाही का फ़ारसी से अनुवाद, जो पीछे अँग्रेज़ी में भी हो गया है।

(६) एक दीवान रेखता, जिसमें ग़ज़लें, क़सीदे और रुबाइयाँ इत्यादि कवि की जीवनी सहित हैं। इसकी एक प्रति उन्होंने स्वयं कालेज को १८१० ई० में भेंट की थी।

हफ़ीज़ुद्दीन अहमद

हफ़ीज़ुद्दीन अहमद अबुलफ़ज़ल की 'अयार दानिश' का फ़ारसी से उर्दू में अनुवाद 'ख़िरद अफ़रोज़' के नाम से १८०३ ई० में किया था। अयार-दानिश मुल्ला हुसैन वाइज़ काशफ़ी की 'अनवार सुहेली' का संक्षेप रूप है, जो अरबी के 'कलेला-दमना' का फ़ारसी अनुवाद है। आरंभ में उसका भाषांतर संस्कृत से हुआ था। 'अनवार सुहेली' का एक अपूर्ण अनुवाद मिर्ज़ा मेंहदी ने किया था, जो कप्तान नाक्स के मुंशी थे। नाक्स साहब ने गया में एक कथावाचक हींगा ख़ां से इसका अनुवाद कराया था। 'अनवार सुहेली' का एक अनुवाद दक्खिनी भाषा में मुहम्मद इब्राहीम बीजापुरी ने किया है, जो १८२४ ई० में मद्रास में छपा है। लेकिन फ़क़ीर महम्मद ख़ां 'गोया' का अनुवाद 'बुस्ताने हिकमत' सबसे उत्तम है। एक संक्षिप्त अनुवाद नवाब अमीर अली ख़ां 'वास्ती' ने १८७२ ई० में 'सितारा-हिन्द' के नाम से किया था तथा एक पद्यबद्ध अनुवाद 'अर्ज़ंग राज़ी' के नाम से बिहारीलाल 'राज़ी', भरतपुरी ने १८७६ ई० में किया है।

इकराम अली

इकराम अली अरबी की प्रसिद्ध नीति-विषय की पुस्तक 'अख़वानुल सफ़ा' का उर्दू अनुवाद किया है। मूल पुस्तक को अरबी के चार विद्वानों ने लिखा है, जिसमें इक्यावन परिच्छेद हैं। इसका पूरा अनुवाद डा० एफ़० डीट्रेस ने १८५०-७६ ई० में किया है। मौलवी साहब ने केवल तीसरे परिच्छेद का अनुवाद किया है, जिसमें पशुओं पर मनुष्य की श्रेष्ठता का प्रश्न, जिनों के बादशाह के सामने उपस्थित किया गया है। सारांश यह है कि पशुओं ने अपने मालिक, मनुष्यों के अत्याचार से तंग होकर अपनी दोहाई जिन-नरेश को दी है। इस मुक़दमे के निर्णय के लिए एक दिन नियत किया गया। उस दिन सब पशुओं ने एकत्रित होकर अपनी-अपनी बड़ाई और जो-जो लाभ वह मनुष्यों को पहुँचाते हैं और मनुष्य उनके साथ

अत्याचार करते हैं, उन सबका वर्णन किया है। घोड़े, गदहे, ऊँट और भेड़ इत्यादि सभी ने एक-एक करके अपने बयान दिये हैं, जो बड़े रोचक हैं। यह उर्दू अनुवाद कप्तान टेलर साहब की आज्ञा से बहुत ही सरल उर्दू में होकर १८१० ई० में प्रकाशित हुआ था। यद्यपि इसमें अरबी शब्दों की भरमार है। मौलवी इकराम अली १८१४ ई० में कप्तान लाकेट की सिफ़ारिश से फ़ोर्ट विलियम कालेज के रेकर्डकीपर हो गए थे।

लल्लूलाल जी

लल्लूलालजी गुजराती ब्राह्मण थे, लेकिन उत्तर-भारत में रहते थे। यों तो विशेषतया हिन्दी के लेखक थे, लेकिन उर्दू के भी अच्छे ज्ञाता थे। इन्होंने शकुन्तला नाटक, सिंहासनबत्तीसी, बैतालपच्चीसी और माधवानल की कहानी के अनुवाद में अनुवादकों को सहयोग दिया था तथा हिन्दी-उर्दू में सौ कहानियों की एक पुस्तक 'लतायफ़ हिन्दी' के नाम से लिखी थी। यह १८१० ई० में लिखी गई थी।

बेनीनरायन

बेनीनरायन का उपनाम 'जहान' था। इन्होंने कप्तान रोबक साहब, सेक्रेटरी फ़ोर्ट विलियम कालेज की आज्ञा से हिन्दुस्तानी कवियों का एक तज़किरा, १८१० ई० में 'दीवान-जहान' के नाम से लिखा है और उन्हीं को समर्पण किया है। इसके अतिरिक्त इन्होंने एक फ़ारसी क़िस्से का अनुवाद 'चार गुलशन' के नाम से किया है, जिसमें 'बादशाह कैवाँ और फ़रख़ुदा' का वृत्तांत है। यह कहानी मुंशी इमाम बख्श के अनुरोध से १८११ ई० में तैयार की गई थी, जिसको कप्तान टेलर साहब ने पसंद करके कर्ता को इनाम दिया था। इसकी मूल प्रति कालेज के पुस्तक-भंडार में रख दी गई है। गार्सां द तासी के कथनानुसार बेनीनरायन ने शाह रफ़ीउद्दीन के 'तंबीहुल ग़ाफ़लीन' का भी उर्दू अनुवाद १८२६ ई० में किया था। तासी ने यह भी लिखा है कि बेनीनरायन मुसलमान हो गए थे और सैयद अहमद बरेलवी की शिष्यता स्वीकार कर ली थी।

मिर्ज़ा अली 'लुत्फ़'

मिर्ज़ा अली लुत्फ़ काज़िमबेग ख़ां के बेटे थे जो ईरान के अंतर्गत अस्तराबाद के रहने वाले थे। ११५४ हि० में नादिरशाह के साथ यहाँ आए और सफ़दरजंग के द्वारा शाही दरबार में प्रविष्ट हुए। 'लुत्फ़' फ़ारसी में भी पद्य-रचना करते थे और अपने पिता के

शिष्य थे, जिनका उपनाम 'हिज्र' या 'हिजरी' था। उर्दू शायरी के विषय में उनका स्वयं कहना है कि मैं किसी का शिष्य नहीं हूँ। यह हैदराबाद जाने के लिए निकले थे कि डा० गिलक्राइस्ट ने इनको रोक लिया और प्रसिद्ध तज़किरा 'गुलशन हिन्द' इनसे लिखवाया, जिसकी चर्चा इन्होंने उक्त पुस्तक की भूमिका में की है। यह पुस्तक १८०१ ई० में नवाब अली इब्राहीम खां के तज़किरा 'गुलज़ार इब्राहीम' के आधार पर कुछ बढ़ा कर लिखी गई है। यह तज़किरा प्राप्य था। जब हैदराबाद में मूसा नदी में बाढ़ आई तो उसमें यह बहता हुआ मिला और अब एक रोचक और उपयोगी प्रस्तावना के साथ मौलवी अब्दुल-हक़ के प्रबंध से प्रकाशित हो गया है। यह तज़किरा बहुत ही रोचक है क्योंकि उस समय की लेखन-शैली और प्रसिद्ध कवियों का वृत्तांत, जिनसे लेखक की भेंट हुई थी तथा उस समय के समाज का चित्र उसमें मौजूद है, यद्यपि घटनाओं का वर्णन बहुत प्रमाणिक नहीं है और शैली भी बहुत बनावटी और लच्छेदार है।

अमानतुल्ला

मौलवी अमानतुल्ला उपनाम 'शैदा' ने कप्तान मोगार की आज्ञा से फ़ारसी की 'इख़लाक़ जलाली' का उर्दू में अनुवाद 'जामउल इख़लाक़' के नाम से १८०५ ई० में किया है, जिसकी भूमिका में उक्त कप्तान और तत्कालीन गवर्नर-जनरल वेलेज़ली की बहुत बढ़ा-चढ़ा कर प्रशंसा की है। इन्होंने १८०४ ई० में एक पुस्तक 'हिदायतुल इसलाम' के नाम से अरबी और उर्दू में लिखी, जिसका अनुवाद गिलक्राइस्ट साहब ने स्वयं अंग्रेज़ी में किया है। अमानतुल्ला ने १८१० ई० में एक पद्यबद्ध उर्दू व्याकरण की पुस्तक भी 'सरफ़ उर्दू' के नाम से लिखी है।

अन्य गद्य-लेखक

उन लोगों के अतिरिक्त, जिनकी चर्चा ऊपर की गई उस समय और भी अनेक मुंशी और गद्यलेखक हुए हैं—सैयद जाफ़र अली 'खां' लखनवी, इफ्तख़ारुद्दीन 'शोहरत', अब्दुल करीम खां 'करीम' देहलवी, मिर्ज़ा हाशिम अली 'अयां', मिर्ज़ा क़ासिम अली 'मुमताज़, मीर अब्दुल्ला 'मिस्कीन', मिर्ज़ा जान 'तपिश', मौलवी ख़लील अली खां 'अश्क' और मिर्ज़ा महम्मद 'फ़ितरत'।

अश्क ने १८०६ ई० में 'अकबरनामा' का अनुवाद 'वाक़याते अकबर'

के नाम से किया था, पर वह प्रकाशित नहीं हुआ। तपिश ने एक पुस्तक उर्दू के मुहावरों पर और एक बड़ी मसनवी 'बहार दानिश' के नाम से १८११ ई० में लिखी। इनका संग्रह फ़ोर्ट विलियम कालेज की ओर से प्रकाशित होगया है।

अठारहवीं शताब्दी के अंत और उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ में देहली में शाह वलीउल्ला एक प्रसिद्ध हदीस के ज्ञाता और सूफ़ी हुए थे। उन्होंने

कुरान के उर्दू अनुवाद

अनेक पुस्तकें 'हुज्जत अल्लाह अल बालगो' इत्यादि के नाम से लिखीं। उनके बड़े पुत्र शाह अब्दुल अज़ीज़ थे, जिनका देहांत १२२९ हि० में हुआ। उनके छोटे भाई शाह रफ़ीउद्दीन (११६३ हि०) ने सब से पहले कुरान का अनुवाद उर्दू में किया। उनके छोटे भाई शाह अब्दुल क़ादिर (११६७ हि०) ने १२०५ हि० में कुरान का दूसरा उर्दू अनुवाद, एक टिप्पणी 'मौज़हुल कुरान' के साथ किया। इनका अनुवाद बहुत ही सरल और मुहावरेदार उर्दू में है, जिसकी प्रशंसा मौलवी नज़ीर अहमद ने की है। ये दोनों अनुवाद उस घोर परिवर्तन के सूचक हैं, जो उर्दू में होने वाला था, जब कि फ़ारसी का ह्रास हो रहा था।

यह मौलवी अब्दुलग़नी के बेटे और शाह वली उल्ला के पोते थे। अपने समय के बहुत बड़े आलिम (विद्वान) थे। यह सैयद अहमद बरैलवी के

मौलवी मुहम्मद इस्माइल देहलवी

मुरीद (शिष्य) हो गए थे। उनके साथ जिहाद (धर्मयुद्ध) के लिए ख़ोस्तान जारहे थे कि रास्ते में पंजाब के निकट बाला-कीट के क़िले के आसपास १२४६ ई० हि० में हताहत हो गए। शाह नसीर ने इस पर एक व्यंगपूर्ण क़सीदा लिखा, जिसको सुनकर इस्माइल के चेले उनके मकान पर चढ़ दौड़े। मिर्ज़ा ख़ानी उस समय दिल्ली के कोतवाल थे। उन्होंने पहुँच कर शाह नसीर को बचाया। मुहम्मद इस्माईल ने उर्दू में अनेक पुस्तकें लिखीं जिनमें प्रसिद्ध 'रिसाला तौहीद' 'तक़वियतुल ईमान' और 'सिराते मुस्तक़ीम' हैं। उन्होंने तर्क पर भी एक पुस्तक 'क़िरातुल ऐन' के नाम से लिखी है।

सबसे पहले हिन्दुस्तानी भाषा का व्याकरण १७१५ ई० में जान जोशुआ केटेलर ने विदेशी भाषा में लिखा था, जो शाह आलम और जहाँ-दार शाह के समय में हालैंड के राजदूत थे, और १७११ ई० में डच ईस्ट

इंडिया कंपनी के सूरत में डाइरेक्टर थे। उन्होंने आगरा से देहली होते हुए लाहौर की यात्रा की थी और फिर १७१६ ई० में ईरान के राजदूत हो गए थे। उन्होंने एक व्याकरण और शब्दकोश भी हिंदुस्तानी भाषा का लिखा जिसको १७४३ ई० में डेविड मिल ने प्रकाशित किया। केटेलर के व्याकरण में न केवल हिंदुस्तानी क्रियाओं के रूप हैं, बल्कि उसमें पुराने बाइबिल की दस आज्ञाएँ और 'लार्ड्स प्रेयर' का भी अनुवाद है। फिर १७४४ ई० में एक प्रसिद्ध जर्मन पादरी, शुल्ज़ ने एक दूसरा व्याकरण लैटिन भाषा में 'ग्रैमेटिका हिंदुस्तानिका' के नाम से लिखा, जिसमें हिंदुस्तानी शब्द फ़ारसी-अरबी अक्षरों में अनुवाद-सहित लिखे तथा, उसमें देवनागरी लिपि की भी व्याख्या की। उसी वर्ष मिल ने हिंदुस्तानी अक्षरों और उसके कुछ शब्दों पर एक छोटी पुस्तक लिखी। १७४८ ई० में इसी विषय पर एक पुस्तक जी० ए० फ्रिट्ज़ ने प्रकाशित की, जिसमें हिंदुस्तानी लिपियों की दूसरे देशों की लिपियों से तुलना की गई है। फिर १७६१ ई० में इटली के एक पादरी केसियानो बेली गाटी ने 'एल्फ़ाबेटम ब्रेह्मेनिकम' के नाम से भारतीय लिपियों पर एक पुस्तक लिखी। इसमें विशेषता यह है कि हिंदुस्तानी अक्षर अपने मूल रूप से टाइप में छपे हैं। १७७२ ई० में हेडली का व्याकरण और १७७८ ई० में पुर्तगाली भाषा में हिंदुस्तानी व्याकरण की पुस्तकें छपीं। इसके पश्चात् डा० गिलक्राइस्ट ने १७८७ ई० से २० वर्ष तक पंद्रह-बीस पुस्तकें व्याकरण, भाषाविज्ञान, कोश तथा अनुवाद की फ़ोर्ट विलियम कालेज के मुंशियों और पंडितों के सहयोग से लिखीं। इनके अतिरिक्त उनकी देख-रेख में अनेक साहित्यिक पुस्तकें तैयार हुईं। डाक्टर साहब की अधिक प्रसिद्ध पुस्तकों में एक अँग्रेज़ी-हिंदुस्तानी कोश (१७९८ ई०) और एक हिंदुस्तानी व्याकरण (१८०६ ई०) प्रकाशित हुआ। इसी प्रकार कप्तान टेलर और डा० हंटर ने भी एक हिंदुस्तानी अंग्रेज़ी कोश १८०८ ई० में और मौलवी अमानतुल्ला ने एक संक्षिप्त हिंदुस्तानी पद्यबद्ध व्याकरण 'सरफ़ उर्दू' के नाम से १८१० ई० में लिखी। जान शेक्सपियर का हिंदुस्तानी व्याकरण १८१३ ई० में और हिंदुस्तानी-अंग्रेज़ी कोश १८१७ ई० में प्रकाशित हुआ। कप्तान प्राइस और यीट्स ने भी हिंदुस्तानी व्याकरण लिखे।

उर्दू के व्याकरण और कोश

गार्सां द तासी ने जो उर्दू के बहुत बड़े विद्वान थे, उर्दू भाषा के संबंध में अनेक पुस्तकें फ्रेंच में लिखीं। ऐसे ही डंकन् फ़ारबीट्स ने अनेक पुस्तकें व्याकरण और कोश की लिखकर तथा उर्दू की पुरानी पुस्तकों का संपादन करके उर्दू भाषा को ऋणी किया। एशियाटिक सोसाइटी बंगाल के जन्मदाता सर विलियम मोनियर और डाक्टर फ़ैलन ने व्याकरण और कोश की पुस्तकें लिखीं। प्लैट का व्याकरण १८७४ ई० में और कोश १८८४ ई० में और पादरी क्रेविन का संक्षिप्त कोश १८८१ ई० में छप कर प्रकाशित हुआ। ये सब पुस्तकें विद्यार्थियों के लिए बहुत उपयोगी समझी जाती हैं।

ऊपर विदेशी विद्वानों की कृतियों का वर्णन हुआ। अब देखना चाहिए कि स्वयं हिंदुस्तानी विद्वानों ने इस विषय में क्या काम किया। इन्शा और क़तील की संयुक्त कृति 'दरियाये लताफ़त' फ़ारसी भाषा में उर्दू का सबसे पहला व्याकरण है, जो १८०२ ई० में लिखा गया और १८४८ ई० में मुर्शिदाबाद में छपकर प्रकाशित हुआ। इस विषय की और जो पुस्तकें लिखी गईं यह हैं :—

हिंदुस्तानियों के लिखे कोश-व्याकरण

(१) मुंशी मुहम्मद इब्राहीम का उर्दू व्याकरण 'तुहफ़ा एलफ़ेन्सटन' (१८२३)

(२) मौलवी अहमद अली देहलवी का उर्दू व्याकरण 'चश्मा फ़ैज़' (१८४५)

(३) मौलवी इमाम बख़्श सहबाई का 'हदायक़ुल-बलाग़त' का अनुवाद (१८४६)

(४) मुंशी करीमुद्दीन की 'क़वायदुल-मुब्तदी'।

(५) निसारअली बेग, फ़ैज़ुल्लाखां और महम्मद अहसन के व्याकरण के रिसाले (लघु-पुस्तकें)।

(६) मौलवी महम्मद हुसैन आज़ाद की 'जामउल् क़वायद' (१८४५)

(७) जलाल का 'गुलशन फ़ैज़' (१८८०) जो उर्दू-हिंदी शब्दों तथा मुहावरों का कोश है।

(८) मुंशी अमीर अहमद की 'अमीरुल् लुग़ात', (अपूर्ण)

(९) मौलवी सैयद अहमद देहलवी की 'फ़रहंग आसफ़िया', चार जिल्दों

में, जो हैदराबाद के निज़ाम की उदारता से प्रकाशित हुई है।

(१०) मौलवी नूरुल हसन नैयर काकोरवी की 'नूरुल्लुग़ात'।

(११) मौलवी अब्दुलहक़ का संक्षिप्त व्याकरण जो नए ढंग से संकलित होकर 'अंजुमन-तरक़्क़ी-उर्दू' ने प्रकाशित किया है।

फिर भी हमारी राय में एक सर्वांगपूर्ण वैज्ञानिक उर्दू व्याकरण की आवश्यकता है।

ईसाई प्रचारकों ने उर्दू में रचनायें की हैं, वह भी उल्लेखनीय हैं बाइबिल के कुछ हिस्सों का सबसे पुराना उर्दू अनुवाद बेंजमिन शुल्ज़ और कालिनबर्ग ने १७४८ ई० से १८५० ई० तक में किया। मिर्ज़ा मुहम्मद फ़ितरत और फ़ोर्ट विलियम कालेज के अन्य मुंशियों ने नई बाइबिल का अनुवाद उर्दू में किया, जो डा० हंटर द्वारा संशोधित होकर १८०५ ई० में कलकत्ते से प्रकाशित हुआ। इसी प्रकार सीरामपुर के पादरियों ने बाइबिल के अनुवाद उर्दू-हिंदी में निकाले। पादरी मार्टिन ने १८१४ ई० में नई बाइबिल का अनुवाद यूनानी भाषा से उर्दू में किया, जिसका मिर्ज़ा महम्मद 'फ़ितरत' ने संशोधन किया। पूरी बाइबिल का अनुवाद सीरामपुर के पादरियो ने पाँच खंडों में १८१६ से १८१६ ई० तक में प्रकाशित किया। इसी प्रकार पादरी लोग जनता की भाषा में अनेक समाचारपत्र और लघुपुस्तकें निकालते थे, जिनमें धार्मिक बातों और गीतों के अतिरिक्त बहुत सी उपयोगी बातें भी होती थीं।

उर्दू के हित में ईसाइयों का काम

अध्याय २

उर्दू गद्य का मध्यकालीन और आधुनिक युग

यह सच है कि उर्दू गद्य का आरंभ फ़ोर्ट विलियम कालेज कलकत्ता से हुआ, लेकिन लखनऊ भी जो दिल्ली की तबाही के पश्चात् विद्या, साहित्य और कविता का केंद्र बन गया था, गद्यलेखन में उक्त कालेज से पीछे नहीं रहा। वहां से 'बुस्तान-हिकमत', 'कलेला-दमना', 'गुलबकावली', 'गुलशन नौबहार', 'गुलसनोवर' और 'नवरतन' इत्यादि पुस्तकें प्रकाशित हुईं।

लखनऊ से प्रकाशित पुस्तकें

नवाब फ़कीरमुहम्मद खां एक नामी रईस और नवाबी फ़ौज के रिसालदार थे, हिसामुद्दौला उपाधि और 'गोया' कविनाम था। नासिख़ के शागिर्द थे, लेकिन ख्वाजा वज़ीर को भी अपनी कविता दिखलाते थे। उनके मरने के बाद उनका दीवान नवलकिशोर प्रेस लखनऊ में छपा है। गोया का देहांत १८५० ई० में हुआ। उनकी लिखी हुई पुस्तक 'बुस्ताने हिकमत' 'अनवार सुहेली' का प्रसिद्ध अनुवाद है, जिसकी तारीख नासिख़ ने कही थी।

'बुस्ताने हिकमत' १२५१ हि०

'बुस्ताने हिकमत' मूलपुस्तक का शाब्दिक अनुवाद नहीं है, किंतु उसमें कुछ घटाया-बढ़ाया गया है, तथा भाषा भी प्रवाहमयी और सरल नहीं है, अरबी-फ़ारसी शब्दों की भरमार है, जिससे लेखनशैली कहीं-कहीं कठिन और निस्स्वाद होगई है, फिर भी सुरूर के 'फ़िसाना-अजायब' की तरह सानुप्रासिक और अलंकृत नहीं है। 'बुस्ताने हिकमत' एक समय में बहुत लोक-प्रिय थी, पर अब लोग इसको कम पढ़ते हैं।

मिर्ज़ा रजबअली 'सुरूर' मिर्ज़ा असगरअली बेग के लड़के लखनऊ के एक विविध-कला प्रवीण प्रसिद्ध गद्य-लेखक थे। सन् १२०१ या १२०२ हि० में लखनऊ में पैदा हुए और वहीं अरबी-फ़ारसी की शिक्षा पाई। अपने समय

के प्रसिद्ध सुलेखकों में थे। इस कला में वह हाफ़िज़ मुहम्मद इब्राहीम के शागिर्द थे। संगीत के भी अच्छे ज्ञाता थे। कविता में आग़ा निवाज़िश के शिष्य थे।

'सुरूर'

बड़े हँसमुख और मोटे-ताज़े सुंदर आदमी थे। उनके प्रसिद्ध मित्रों में शरफ़ुद्दीन और मिर्ज़ा ग़ालिब भी थे। मिर्ज़ा ग़ालिब ने तो सुरूर के 'फ़िसानाअजायब' और 'गुलजारे-सुरूर' का बहुत ही अच्छा परिचय लिखा है। सुरूर १२४० हि० में गाज़ीउद्दीन हैदर अवध-नरेश की आज्ञा से निर्वासित होकर कानपुर गए, जहाँ उनका जी बहुत उचटने लगा और उन्होंने उस नगर की बड़ी निंदा की है। वहीं उन्होंने हकीम असद अली के परामर्श से अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'फ़िसाना-अजायब' १२४० हि० में लिखी। इस पुस्तक के आरंभ में सुरूर ने गाज़ीउद्दीन हैदर की बहुत प्रशंसा की है, इस आशा से कि शायद उनको लखनऊ में आने की आज्ञा दे दी जाय, क्योंकि इस पुस्तक की रचना उन्हीं के समय में आरंभ हुई थी, पर नसीरुद्दीन हैदर के राज्यकाल में, समाप्त हुई, अतः इसमें उनकी भी प्रशंसा निम्नलिखित पद्य से की गई—

ता अबद क़ायम रहे फरमाँरवाए लखनऊ।
यह नसीरुद्दीन हैदर बादशाहे लखनऊ।

१८४६ ई० में सुरूर वाज़िदअली शाह के दरबारी शायर ५०) महीने पर नियत हो गए, जिनकी प्रशंसा में उन्होंने क़ुतुबुद्दौला मुसाहब के द्वारा क़सीदा प्रस्तुत किया था। १८४७ ई० में बादशाह के हुक्म से फ़ारसी की पुस्तक 'शमशेर ख़ानी' का उर्दू अनुवाद 'सुरूर सुलतानी' के नाम से किया। उसके तीन वर्ष के भीतर उन्होंने अनेक छोटी-छोटी कहानियाँ लिखीं, जिनमें से एक का नाम 'शरर इश्क़' है, जो भूपाल की सिकंदर बेगम की आज्ञा से लिखी गई थी। इसी प्रकार १८५६ ई० में उन्होंने संदीले के रईस अमजदअली ख़ां की प्रेरणा से 'शगूफ़ा मुहब्बत' नामक पुस्तक लिखी। अवध का राज्य ज़ब्त हो जाने से सुरूर बहुत व्यथित होगए। कुछ दिनों तक कारनेगी साहब के सरिश्तेदार, सैयद क़ुरबानअली और कमसरियट के मुंशी शिवप्रसाद ने उनकी आर्थिक सहायता की। लेकिन १८५७ ई० के ग़दर से यह भी सिलसिला जाता रहा। १८५६ ई० में काशी-नरेश महाराजा ईश्वरीनारायण सिंह ने उनको बुला लिया और उनकी बहुत आव-भगत की। बनारस ही में 'सुरूर' ने 'गुलज़ार सुरूर' और

'शबिस्तान-सुरूर' तथा अन्य गद्य-पद्य की छोटी-छोटी पुस्तकें लिखीं। सुरूर को अलवर, और पटियाला के महाराजाओं ने भी बुलाया था। अलवर नरेश ने उनको एक जोड़ा सोने का कड़ा भी दिया था। 'सुरूर' के एक पत्र से जो उनके 'इन्शाए-सुरूर' में है यह मालूम होता है कि वह दिल्ली, लखनऊ, मेरठ और राजपूताना भी गए थे। उनके 'इन्शाए-सुरूर' के पत्रों से उनकी जीवनी तथा उस समय के अन्य बातों पर बहुत कुछ प्रकाश पड़ता है। एक बार 'सुरूर' किसी के वध होने के मामले में लपेट में आ गए थे। १८६३ ई० में वह अपनी आँखों के इलाज के लिए कलकत्ता जाकर वाजिदअली शाह से भी मिले थे। लेकिन उनको सफलता नहीं हुई। अंत में उन्होंने लखनऊ आकर एक हिंदुस्तानी डाक्टर से इलाज कराया। इसके बाद वह बनारस गए, जहाँ १८६७ ई० में उनका देहांत हो गया।

फ़िसाना अजायब

सुरूर की सब से प्रसिद्ध रचना 'फ़िसाना अजायब' है, जिससे उनका नाम अमर हो गया। इसका विषय और शैली पुराने ढर्रे की फ़ारसी क़िस्सों की तरह है, जो लच्छेदार, अलंकृत सानुप्रासिक वाक्यों से ओत-प्रोत है। यह एक ऐसी कल्पित कहानी है, जिसमें जादूगरों से देवों की लड़ाई और यात्रा के विचित्र वृत्तांत भरे पड़े हैं, नवयुवकों को यह बहुत पसंद है, लेकिन गंभीर स्वभाव के लोगों को इसके कथानक में कोई आनंद नहीं आता; अलबत्ता उसकी चुटपुटी भाषा और बनावटी लेखन-शैली को बहुधा लोग पसंद करते हैं। शैली तो बहुत ही अलंकृत है पर घटनाओं के चित्रण का अभाव है। कुछ वाक्य ऐसे अवश्य हैं जो पद्य के समान रोचक और साहित्यिक पच्चीकारी के उत्तम नमूने हैं। इस पुस्तक को वर्तमान काल की आलोचना की दृष्टि से परखना व्यर्थ है, इसलिए कि लेखक पुरानी धारा का था। क़िस्सा भी पुराने ढंग का है और लेखनशैली भी उसी समय की है, जब फ़ारसी का प्रायः प्रचार था। यहाँ तक कि चिट्ठीपत्री में भी उसी ढंग की लच्छेदार लिखा-पढ़ी होती थी, और सादी उर्दू लिखनेवालों को लोग मूर्ख और अयोग्य समझते थे। इन बंधनों को देखते हुए हमको उन लोगों का कृतज्ञ होना चाहिए, जिन्होंने पुराने जर्जरित ढंग को छोड़ कर नया मार्ग दिखलाया, जैसे मिर्ज़ा ग़ालिब और सर सैयद अहमद ख़ाँ, इत्यादि।

जैसे उर्दू पद्य का आरंभ ग़ज़लों, मरसियों और मसनवी से हुआ, वैसे ही उर्दू पद्य का सूत्रपात कल्पित क़िस्से-कहानियों से हुआ और जैसे उर्दूपद्य धीरे-धीरे उन्नत करता हुआ इस स्थिति तक पहुँचा, वैसे ही गद्य भी विकसित होता हुआ वर्तमान काल की सरल और गम्भीर शैली पर आ गया।

फ़िसाना-अजायब की भूमिका इसलिए और भी रोचक है कि उसमें उस समय की सोसाइटी, यहाँ के सामान्य लोगों तथा रईसों के रहन-सहन का ढंग, उनके जलसों, शहर के रस्मोंरिवाज, खेल-तमाशों, रोचक दृश्य, विविध पेशेवालों और निपुण लोगों के हालात, बाज़ारों की चहल-पहल तथा सौदा बेचने वालों की पुकार इत्यादि के रोचक और सजीव चित्र प्रदर्शित किए गए हैं। लेकिन सच्ची बात यह है कि सुरूर के ऐसे वर्णन को सरशार के चित्रण से पृथक् समझना चाहिए। सरशार के यहाँ चरित्र और विविध सोसाइटियों के चित्र दिखलाए गए हैं, जिसको उन्होंने बहुत विस्तार के साथ प्रदर्शित किया है और अपनी विनोदात्मक शैली से उसमें एक चित्ताकर्षक रंगीनी पैदा कर दी है। इसके विपरीत सुरूर के यहाँ सोसाइटी का प्रतिबिंब या चरित्र-चित्रण नहीं है, तथा जिन चीजों का वह वर्णन करना चाहते हैं उन पर एक चलती-फिरती दृष्टि डालते हैं, जिसका कारण यह मालूम होता है कि सरशार उपन्यासकार की हैसियत से चरित्र-चित्रण और प्रत्येक मामूली बातों को विस्तार के साथ वर्णन करना आवश्यक समझते हैं। सुरूर ने इसको ज़रूरी नहीं समझा।

इस प्रसंग में पंडित विशननरायन दर के वे विद्वत्तापूर्ण विचार सुनने योग्य हैं जो 'फ़िसाना अजायब' को पढ़कर उन्होंने अँग्रेज़ी में लेखबद्ध किये थे। वह लिखते हैं :—

'सरशार की अपेक्षा सुरूर से यहाँ लखनऊ का वर्णन अधिक परिपूर्ण सुसंगत और सुंदर है। लेकिन सुरूर आदमियों का हाल नहीं लिखते, किंतु वहाँ की चीज़ों का चित्र खींचते हैं। जैसे हलवाई की दुकान के पास से हम निकलते हैं, हमारे मुँह में पानी भर आता है। तमोलियों के यहाँ के बीड़े देख-कर हमारा जी ललचाता है। मलाई को देखकर हमको निश्चय हो जाता है कि लखनऊ की मलाई के सामने डेवनशायर की मलाई कोई चीज़ नहीं है। लैस-गोटे बेचनेवाले, जौहरी, बनिए-बक्क़ाल, पंसारी सब चोखा माल लिए बैठे हैं।

चौक तथा अन्य बाज़ार और सैर-सपाटे के स्थान (जो अब नहीं रहे) हम इस पुस्तक में देखते हैं, और उनकी ख़ूब सैर करते हैं। हमारी दृष्टि उन कोठों पर भी जाती है जहाँ से कुछ सुंदर मूर्तियाँ अपनी मदमाती और रसीली आँखों से हमको झाँकती हैं। हम चौक से होकर निकलते हैं, परंतु वह एक चुप-चाप सूनी बस्ती प्रतीत होती है। राही और दूकानदार मानों सब सो रहे हैं। हम भीड़ में चलते हैं, लेकिन धक्कमधक्का नहीं होता। कोठेवालियाँ हमारे संकेत का उत्तर नहीं देतीं। तमोलिनें अपने हाव-भाव में लगी हुई हैं, लेकिन मुँह से कुछ नहीं बोलतीं। पंसारी बहरे हैं, बिसाती अचेत, हलवाई ऊँघ रहे हैं, चलो उनकी मिठाइयाँ जेब में भर कर ले उड़ें। सारांश यह कि जीवन का इस पुस्तक में कहीं पता नहीं है। प्रसिद्ध गवैए हमारे सामने आते हैं, पर उनका गाना हमारे सुनने में नहीं आता। इसी प्रकार कवि, सिपाही, पहलवान, बादशाह और वज़ीर सभी चुप-चाप कंदील के चित्र की तरह हमारे सामने से घूम जाते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि लेखक ने अर्द्धचेतना की दशा में ये सब चित्र खींचे हैं। अतः यह कहना असंगत न होगा कि सुरूर का लखनऊ वह नीरव नगर है, जिसका वर्णन टेनीसन ने अपनी प्रसिद्ध कविता डेड्रीम (दिन के स्वप्न) में निम्नलिखित शब्दों में किया है :—"कहीं बटलर (खानसामा) अपने दोनों घुटनों के बीच में शराब की बोतल दबाए बैठा है, जो आधी रह गई है ; और कहीं बुड्ढा स्टुवर्ड (बावरची) अपने काम में लगा है, कहीं सुंदरी मेड (कुमारी चाकरानी) का हाथ नवयुबक नौकर 'पेज' ने पकड़ लिया है। मेड कुछ कहने के लिए मुँह खोलना चाहती है। पेज चूमने के लिए अपना मुँह लपकाता है, जिससे लज्जा की लालिमा मेड के कपोलों पर दौड़ जाती है।" उस समय सानुप्रासिक अलंकृत लेखन-शैली का इतना रिवाज था कि उससे बचना कठिन था, इस लिए 'फ़िसाना अजायब' पुस्तक सरल और बोलचाल में गिनी नहीं जा सकती, विपरीत इसके उसमें बनावट बहुत है और वाक्य सुसंगठित नहीं हैं। सुरूर के चित्र जैसा कि स्वर्गीय पं० ब्रिशननरायन दर ने ऊपर वर्णन किया है, पात्रों की रूप-रेखा नहीं दिखाते, बल्कि केवल उनके वातावरण को प्रदर्शित करते हैं। वाक्यों में अनुप्रास के बंधन के कारण वर्णन की गति में तारतम्य नहीं है और पाठक शब्दों के जाल में उलझ जाते हैं। सुरूर ने अपने जन्म-

भूमि के प्रेम के जोश में मीर अम्मन बल्कि अन्य दिल्लीवालों पर बहुधा चोटें की हैं। 'फ़िसाना अजायब' के कथानक में चरित्र-चित्रण बहुत कम है। अलबत्ता मलका मिह्रनिगार के चरित्र में सच्चा प्रेम, शुभचिंतन, वीरता, चातुर्य, गंभीरता और सहनशीलता का विशद रूप से वर्णन किया है। दूसरी विशेषता यह है कि इसके अंतर्गत कुछ कहानियाँ ऐसी भी आगई हैं, जिसके नायक अंग्रेज़ हैं, जैसे मेजेस्टन के लड़के की कथा। इसमें अंग्रेज़ी शब्दों का समावेश है, जो शायद ही इससे पूर्व उर्दू गद्य में व्यवहृत हुए हों। संसार की असारता की शिक्षा जो बंदर के भाषण से मिलती है और जोगी का उपदेश बहुत ही रोचक और चित्ताकर्षक हैं। इस पुस्तक के ऊपर दो कहानियाँ और लिखी गईं। एक ख़्वाजा फ़ख़रुद्दीन हुसैन 'सख़ुन' 'देलहवी' का सरोश सख़ुन जो १८६० ई० में लिखी गई और जिसमें सुरूर के आक्षेपों का मुँहतोड़ जवाब है, और दिल्ली-वालों की प्रशंसा की गई है। दूसरी पुस्तक महम्मद जाफ़र अली 'शेवन' लखनवी की 'तिलिस्म हैरत' है जो १८७८ ई० में लिखी गई। इसमें 'सरोश सख़ुन' में जो सुरूर की त्रुटियाँ दिखलाई गई थीं, उनका उत्तर है।

अन्य पुस्तकें

सुरूर ने १८४७ ई० में 'सुरूर सुलतानी' के नाम से 'शमशेर ख़ानी' का अनुवाद किया, जो फ़िरदौसी के शाहनामा का सार है। इसकी भी शैली अलंकृत और सानुप्रास है, जो इतिहास के लिए उचित नहीं है। इसमें देशानुराग के आवेश में हिंदुस्तान की बहुत प्रशंसा की गई है जो दर्शनीय है। सन १८५० में उन्होंने 'शरर इश्क़' नामक पुस्तक लिखी, जिसमें भूपाल के जंगलों के एक सारस के जोड़े का प्रेम-वर्णन किया है, कि नर को किसी ने मार डाला तो उसकी मादा ने लकड़ियाँ इकट्ठी करके जलाईं और उसमें सती हो गई। इसी वर्ष उन्होंने 'शिगूफ़ा-मुहब्बत' लिखा जिसमें मिहरचंद खत्री के पुराने किस्से का ढंग से वर्णन किया है। इस में वाजिदअली शाह के कलकत्ते की यात्रा का भी हाल है। फिर उन्होंने एक पुस्तक 'गुलज़ार सुरूर' के नाम से लिखी जो फ़ारसी के 'हदायकुल उश्शाक़' का अनुवाद है। इसमें कहानी के रूप में आत्मा और प्रेम का संघर्ष वर्णन किया गया है। यह धार्मिक विषय है, जिसको अनुवादक ने अलंकृत शैली में लिखा है, मिर्ज़ा ग़ालिब ने भी इसका परिचय उसी ढंग से लिखा है। सुरूर की पाँचवीं

पुस्तक 'शबिस्तान सुरूर' है, जो अलिफ़लैला की कुछ कहानियों का अनुवाद है। इस के बीच-बीच में कुछ पद्य लिखकर सुरूर ने रोचक बना दिया है।

अलिफ़लैला के अन्य अनुवाद

अलिफ़लैला के क़िस्से हिंदुस्तान में सदा से लोकप्रिय रहे अतः उसका अनुवाद अनेक लोगों ने किया है। पहला अनुवाद मुंशी शम्सुद्दीन अहमद ने १८३६ ई० में मद्रास से प्रकाशित किया, जिसका नाम 'हिकायतुल जलीला' है। इसमें केवल दो सौ कहानियाँ हैं, जो मद्रास कालेज के विद्यार्थियों के लिए लिखी गई थीं। दूसरा अनुवाद मुंशी अब्दुल करीम ने १८४४ ई० में फ़ारेस्टर साहब की अँग्रेज़ी पुस्तक से किया। इसकी भाषा इतनी स्पष्ट और सरल है कि ऊँचे साहित्य वाले इसको भद्दी समझते हैं। फिर एक पद्यबद्ध अनुवाद मुंशी नवलकिशोर की प्रेरणा से चार खंडों में नसीम देलहवी, मुंशी तोताराम 'शायान' और मुंशी शादी लाल 'चमन' द्वारा १८६२ से १८६८ ई० तक में किया जिसका एक गद्य अनुवाद भी मुंशी तोताराम द्वारा १८६८ ई० में हुआ। इसके बाद मुशी हामिद अली ने १८९० में अनुवाद किया। फिर मिर्ज़ा हैरत देहलवी ने 'शबिस्तान-हैरत' के नाम से १८९२ ई० में औपन्यासिक ढंग से अनुवाद इंगलैंड नरेश एडवर्ड सप्तम, जब वह युवराज थे, इनके विवाह के अवसर पर सुरूर ने एक बधाई, 'नस्र नसरा नसार' के नाम से लिखी, जिसमें अंग्रेज़ी राज्य के लाभ को बड़े अच्छे शब्दों में वर्णन किया है। सुरूर के पत्रों का एक संग्रह भी 'इंशाय सुरूर' के नाम से उन्हीं की शैली में है।

उर्दू गद्यकारों में सुरूर का स्थान

निस्संदेह पुराने ढंग के उर्दू गद्य लेखकों में सुरूर का स्थान बहुत ऊँचा है। अपनी शैली में वह अद्वितीय हैं। लेकिन जब समय बदला और कारोबारी युग आरंभ हुआ तो उस प्रकार की लच्छेदार शैली से लंबे-लंबे वाक्य और जटिल अरबी-फ़ारसी शब्दों से लोगों का जी ऊब गया और सच पूछिए तो वर्तमान समय की आवश्यकताओं के व्यक्त करने के लिए ऐसे लेख अनुचित भी थे। फलतः वह शैली त्याग दी गई। फिर भी सुरूर ने अपना रंग ख़ूब निबाहा और उसमें वह बड़े निपुण थे। उनकी पुस्तकों में लखनऊ का वर्णन और वहाँ की सोसाइटी का चित्र विशेषतया बहुत ही रोचक हैं। गद्य लिखने में वह इतने निपुण थे

क उसके सामने उनके अन्य कौशल, जैसे उनका सुंदर लिखना और उनका गीतज्ञ होना, सब दब गया। उनका दीवान लुप्त है, परंतु उनके कुछ पद्यों से, ो उनके गद्य की पुस्तकों में जहाँ-तहाँ मिलते हैं, कहा जा सकता है कि वह च्छे कवि भी थे। उनको लखनऊ से अगाध प्रेम था, इसलिए वह वहाँ की ली से भी प्रभावित थे।

लोग ग़ालिब को एक कवि के रूप में जानते हैं। उनका गद्य जनता प्रायः छिपा हुआ है। लेकिन सच्ची बात यह है कि वह फ़ारसी और उर्दू दोनों के कवि की तरह अद्वितीय गद्यलेखक भी थे। उनकी गद्य की सामग्री, उनकी चिट्ठियाँ, कुछ पुस्तकों के परिचय और भूमिका और तीन छोटी-छोटी पुस्तकें 'लतायफ़ ग़ैबी', ेग तेज़' और 'नामा-ग़ालिब' के नाम से हैं जो 'बुरहान क़ाता' के पक्षवालों उत्तर में लिखे गए थे। इनके अतिरिक्त एक अपूर्ण कहानी भी है, जिसको न्होंने मरने से कुछ पहले लिखना आरंभ किया था। पर इन सब में उन पत्रों ा संग्रह जो 'उर्दूए मुअल्ला' और 'ऊदे हिंदी' के नाम से प्रसिद्ध है, तथा कुछ स्तकों के परिचय उनके उर्दू गद्य के सर्वोत्तम नमूने और उनकी विशेष शैली निदर्शक हैं।

ग़ालिब गद्यलेखक के रूप में

१८५० ई० तक मिर्ज़ा फ़ारसी में पत्रव्यवहार करते थे, जो 'पंज-ांहग' में छपे हैं, जिसकी चर्चा कहीं-कहीं उर्दू चिट्ठियों में भी है। बाद में उन्होंने उर्दू में पत्र लिखना आरंभ किया, जिसमें उनकी अपनी विशेष शैली है। बल्कि सच पूछिए तो उसी के आधार पर एक विशेष ढंग की नई शैली स्थापित हुई। कोई उनका नुकरण नहीं कर सका। यों तो लोगों के अनेक पत्र-संग्रह प्रकाशित हो चुके । लेकिन मिर्ज़ा का ढंग सबसे पृथक् है, उसमें किसी प्रकार की बनावट न ोने पर भी सरस है। लेख की धाराप्रवाह प्रगति से ऐसा जान पड़ता है मानों लम उठाकर धड़ाधड़ लिखते चले गए हैं, और विविध प्रकार के विषयों की से नदी उमड़ी चली आती है। शैली अत्यंत स्पष्ट और दैनिक बोल-चाल की , और कहीं उस आदर्श से गिरने नहीं पाई, बल्कि उसमें एक साहित्यिक रस । आशय प्रत्येक वाक्य से प्रकट है और विनोद तो उसके तह में छिपा ही

'उर्दूए-मुअल्ला' और 'ऊदे-हिंदी'

हुआ है। उन्होने जिनको पत्र लिखा है, निस्संकोच होकर साहस के साथ, बिना उसका परिणाम सोचे ऐसी सम्मति प्रकट की है, मानों उनके निष्कपट भाव से वह प्रभावित होकर वह उनके प्रेम पाश में फँस जायगा। उनकी चिट्ठियाँ निश्चित मनःस्थिति में, ऐसे सादे ढंग से बिना किसी टीम-टाम के लिखी गई हैं, जो उनके पश्चात् किसी उर्दू-फ़ारसी के पत्र व्यवहार में पाई नहीं जातीं। कभी-कभी अपने पत्रों में उन्होने वार्तालाप के रूप में कुछ ऐसी घटनाओं का वर्णन किया है, जिसमें उपन्यास या नाटक का आनंद आ जाता है। यही नहीं उन्होंने लेखनी के तनिक हिला देने से हृदयतंत्री को हिला देने वाला चित्र खींच दिया। वस्तुतः ग़ालिब इस कला में बड़े निपुण थे। उन्होंने अपनी चिट्ठियों में विशेष शैली के अतिरिक्त यह नवीनता पैदा की है कि अभिवादन का पुराना घिसा हुआ ढंग और बहुत सी अन्य व्यर्थ बातें त्याग दी हैं। वह 'पंज आहंग' में लिखते हैं कि जब मै पत्र लिखने के लिए क़लम उठाता, तो अपने संबोधित को ऐसे शब्द से जो उसकी अवस्था के अनुसार अनुकूल होता है, पुकारता हूँ और अपना आशय वर्णन करने लगता हूँ, जिसके कुछ नमूने नीचे दिये जाते हैं:—

'अहा हा मेरा प्यारा महदी आया। आओ भाई, मिज़ाज तो अच्छा है। बैठो यह रामपुर है। जो लुत्फ़ यहाँ है वह और कहाँ है।'

'आओ मियां सैयद ज़ादा आज़ादा दिल्ली के आशिक दिलदादा, ढहे हुए उर्दू बाज़ार के रहने वाले, हसद से लखनऊ को बुरा कहने वाले ....'

'बरख़ुरदार नूरचश्म मीर मेंहदी को बाद दुआ हयात व सेहत के मालूम हो। भाई तुमने बुख़ार को क्यों आने दिया, तप को क्यों चढ़ने दिया। क्या बुखार मीरन साहब की सूरत में आया था कि तुम माना न आए।'

'मेरी जान तू क्या कह रहा है। बनिये से सयाना सौ दीवाना। सब्र व तसलीम शेवा सूफ़िया का है। मुझसे ज्यादा इसको कौन समझेगा।'

'सैयद साहब! अच्छा ढकोसला निकाला है। बाद अलक़ाब के शिकवा शुरू कर देना और मीरन साहब को अपना हमज़बान कर लेना।'

हम यहाँ मिर्ज़ा का एक पत्र जो मीर महदी के नाम है, वार्तालाप के रूप में नक़ल करते हैं, जिससे उनकी विशेष शैली का पता लगता है। इसमें 'ग़ा०' से ग़ालिब और 'म०' से महदी समझना चाहिए।

ग़ा—ऐ जनाब मीरन साहब। अस्सलाम अलेकुम।

म—हज़रत आदाब।

ग़ा—कहो साहब! आज इजाज़त है मीर महदी के ख़त का जवाब लिखने को।

म—हुज़ूर क्या मैं मना करता हूँ। मैंने तो यह अर्ज़ किया था कि अब वह तंदुरुस्त होगए हैं, बुख़ार जाता रहा है, सिर्फ़ पेचिश बाक़ी है, वह भी रफ़ा हो जायगी। मैं अपने हर ख़त में आपकी तरफ़ से लिख देता हूँ। आप फिर क्यों तकलीफ़ करें।

ग़ा—नहीं मीरन साहब उसके ख़त को आए हुए बहुत दिन हुए। वह ख़फ़ा हुआ होगा, जवाब लिखना ज़रूर है।

म—हज़रत वह 'आपके फ़रज़ंद हैं'। आप से ख़फ़ा क्यों होंगे।

ग़ा—मियाँ आख़िर कोई वजह तो बताओ कि तुम मुझे ख़त लिखने से क्यों बाज़ रखते हो।

म—सुभानल्ला, सुभानल्ला। ऐ लो हज़रत आप तो ख़त नहीं लिखते और मुझे फ़रमाते हैं कि तू बाज़ रखता है।

ग़ा—अच्छा तुम बाज़ नहीं रखते, मगर यह तो कहो कि तुम क्यों नहीं चाहते कि मैं मीर मेंहदी को ख़त लिखूँ।

म—क्या अर्ज़ करूँ सच तो यह है कि जब आपका ख़त जाता और वह पढ़ा जाता तो मैं सुनता और हज़ उठाता। अब जो मैं वहाँ नहीं हूँ, नहीं चाहता कि आपका ख़त जाय। अब मैं पंजशंबा को रवाना होता हूँ। मेरी रवानगी के तीन दिन बाद आप ख़त शौक़ से लिखिएगा।

ग़ा—मियाँ बैठो होश की ख़बर लो। तुम्हारे जाने न जाने से मुझे क्या इलाक़ा। मै बूढ़ा आदमी, भोला आदमी, तुम्हारी बातों में आ गया और आज तक उसको ख़त नहीं लिखा।

इसके बाद पत्र इस प्रकार आरंभ होता है:—

'लाहौल वला क़ूअत। सुनो मीर मेंहदी साहब! मेरा कुछ गुनाह नहीं। मेरे पहले ख़त का जवाब लिखो। तप तो रफ़ा हो गई। पेचिश के रफ़ा होने की ख़बर शिताब लिखो। परहेज़ का भी ख़्याल रक्खा करो। यह

जुदी बात है कि वहाँ कुछ खाने को मिलता ही नहीं।

यहाँ के हालात मीरन साहब की ज़बानी मालूम होंगे। देखो बैठे हैं। क्या जानूँ हकीम मीर अशरफ़ में कुछ कौसल हो तो रही है। पंजशंबा रवानगी का दिन ठहरा तो है। अगर चल निकलें और पहुँच जाँय तो उनसे यह पूछियो कि जनाब मल्का इंग्लिस्तान की सालगिरह की रोशनी की महफ़िल में तुम्हारी क्या गत हुई थी और यह भी मालूम कर लीजिओ कि यह जो फ़ारसी मसल मशहूर है कि 'दफ़र रा गाँव ख़ुर्द' इसके मानी क्या हैं। पूछियो और न छोड़ियो, जब तक न बताएँ। इस वक़्त पहले तो आँधी चली, फिर मेंह आया, अब मेंह बरस रहा है। मैं ख़त लिख चुका हूँ, सिरनामा लिखकर छोड़ूँगा। जब तरश्शा मौक़ूफ़ हो जायगा तो कल्यान डाक को ले जायगा। मीर सरफ़राज हुसैन को दुआ पहुँचे। अल्ला, अल्ला, तुम पानीपत के सुल्तानुल उल्मा और मुजतहदुल-अस्र बन गए। कहो वहाँ के लोग तुम्हें क़िबला-काबा कहने लगे या नहीं।'

इस काट-छाँट से पुराने लोगों की लंबी-चौड़ी अरुचिकर शैली का सुधार हो गया। यह एक ऐसी नवीनता है, जिससे उर्दू पत्र व्यवहार, पुराने ढकोसलों, बनावट और बिना अवसर के विद्वत्ता दिखलाने से रहित होकर बहुत ही मधुर और रोचक हो गया। यद्यपि यह आविष्कार उस समय के लोगों को पसंद न आया, लेकिन ज्यों-ज्यों समय बदलता गया, लोग इसके महत्व को अनुभव करते गए और सभी जगह उसके अनुयायी पैदा हो गए। मौलाना हाली, सर सैयद अहमद ख़ाँ, मौलवी ज़ुकाउल्ला, मौलाना महम्मद हुसैन आज़ाद और अन्य लेखकगण जैसे अमीर मीनाई और अकबर इत्यादि ने सादी लिखावट को पसंद किया और अपने-अपने ढंग पर गद्य लिखा। लेकिन सच यह है कि मिर्ज़ा की सादगी, हृदयाकर्षण, चपलता, विनोद, भाव-व्यंजना और उद्गार में कोई उनकी बराबरी नहीं कर सका।

उनके पत्रों की एक प्रत्यक्ष विशेषता यह भी है कि वे उनके जीवन के एक निर्मल दर्पण हैं, यहाँ तक कि यदि कोई कष्ट उठाकर उनकी चिट्ठियों को तिथि के क्रमानुसार संग्रहीत करे और वे खंड जो उनके जीवन के संबंध में हैं, छाँटता जाय तो उनकी एक संक्षिप्त स्वरचित जीवनी बन सकती है। कारण यह

है कि ये चिट्ठियाँ उनके जीवन और उसके विवरण के चित्र हैं। उनसे उनके मित्रों के संबंध के विषय में उनका दृष्टिकोण और तत्कालीन तथा प्राचीन कवियों के प्रति उनके विचारों का निर्देश होता है। कुछ चिट्ठियों को पढ़कर तो यह प्रतीत होता है कि उनका आशय संबोधित को प्रसन्न करना और उसका शोक निवारण करना था। उनका विनोद भी सब से निराला है। उर्दू में तो उसका जवाब ही नहीं है। यूरोपियन लेखकों में भी उसका अभाव है। फ्रेंच लेखक वालटेयर और अंग्रेज़ी गद्यलेखक स्विफ़्ट अपने-अपने ढंग में विशेष विनोद रखते हैं। लेकिन मिर्ज़ा उन सब से पृथक् हैं। वालटेयर की तरह उनमें स्वांग और स्विफ़्ट के समान उनमें तीव्रता और दूसरों के हृदय को चोट पहुँचाना नहीं है। अलबत्ता उनके विनोद के लालित्य और सूक्ष्मता का प्रतिबिंब कुछ-कुछ एडीसन के लेखों में पाया जाता है। अतः मिर्ज़ा का यह बहुत बड़ा उपकार है कि उन्होंने उर्दू गद्य को नीरसता और निस्स्वाद से मुक्त कर दिया।

मिर्ज़ा की अलंकृत शैली

मिर्ज़ा यद्यपि चिट्ठियों में सादा और सरल लिखने के प्रेमी थे, लेकिन उस समय की प्रथानुसार मित्रों की पुस्तकों का परिचय उसी पुराने ढंग में लिखते थे। इसका कारण मौलाना हाली से सुनना चाहिए। वह कहते हैं 'मिर्ज़ा को इसमें क्षम्य समझना चाहिए। जो लोग अपनी पुस्तकों के परिचय और भूमिका लिखने को उनसे कहते थे वे बिना लच्छेदार लेख के प्रसन्न होने वाले न थे। जो ढंग आजकल समालोचना लिखने का है उसको अब भी कुछ लोग कम पसंद करते हैं, और मिर्ज़ा के समय में तो उसका पता भी न था।' अतः उन्होंने विवश होकर मिर्ज़ा रजबअली बेग सुरूर की पुस्तक 'गुलज़ार-सुरूर' और मुफ़्ती मीर लाल की 'सिराजुल मारफ़त' का परिचय उसी पुराने ढंग से सानुप्रासिक वाक्यों में लिखा है।

गद्य लेखकों में मिर्ज़ा का स्थान

उर्दू गद्य लिखने में मिर्ज़ा का स्थान बहुत ऊँचा है। वह नवीन युग के गद्य-लेखन में अग्रगामी थे और उन्होंने ऐसा आनंददायक और स्वच्छ विनोद दिया, जिसकी बहुत दिनों से ज़रूरत थी तथा एक अल्प भार और उल्लसित साहित्य उत्पन्न किया।

उनका प्रभाव आगे के लेखकों के लिए बहुत दिनों के लिए शिक्षाप्रद हुआ।

दूसरा आंदोलन जो यद्यपि साहित्यिक रूप में न था, पर उससे उर्दू गद्य को बहुत लाभ हुआ, वह था सैयद अहमद बरेलवी और उनके उस्ताद शाह अब्दुल अज़ीज़ और शाह अब्दुल क़ादिर के समय में मुसलमानों के वहाबी मत का प्रचार, जिसके लिए अनेक पुस्तकें सरल उर्दू में लिखी गईं। यह आंदोलन बढ़ता गया।

सैयद अहमद का प्रभाव

यद्यपि उक्त सैयद अहमद के पश्चात् वह दब गया, पर सर सैयद अहमद खां के तमाम शिक्षा और धर्म-संबंधी सुधारों को उसको जड़ समझना चाहिए। सैयद अहमद बरेलवी और उनके मित्रों के प्रचार से देश में बहुत हलचल उत्पन्न हो गई, लेकिन उनके मत के पक्ष और विपक्ष में जितनी पुस्तकें उर्दू गद्य में लिखी गईं, उनकी भाषा बहुत सरल और साफ थी, जिनसे उर्दू भाषा को बहुत सहायता मिली।

मौलवी सैयद अहमद बरेलवी १७८२ ई० में पैदा हुए थे। यहाँ से धार्मिक शिक्षा समाप्त करके वह पहले मक्के गए और फिर वहाँ से तुर्की जाकर छः वर्ष तक वहाँ रहे। फिर यहाँ लौट कर सिक्खों के विरुद्ध उन्होंने जिहाद (धार्मिक युद्ध) की घोषणा करदी, और अपने मित्र मौलवी इस्माईल को लेकर पेशावर की ओर सहायता के लिए गए। वहाँ पहले तो उनको अपना दल बढ़ाने में बहुत सफलता हुई, पर पीछे उनके क्रूर सिद्धांत को देखकर अफ़-गानों ने उनका साथ छोड़ दिया, जिससे वह भाग कर सिंधु नदी के पार पहाड़ों में आ छिपे। वहाँ १८३१ ई० में सिक्खों के एक छोटे सैन्यदल के द्वारा, जिसका सरदार शेरसिंह था, मारे गए।

उक्त सैयद अहमद के गुरु शाह अब्दुल अज़ीज ने .कुरान का भाष्य फ़ारसी में किया, जिसका अब उर्दू में भाषांतर हो गया है और उनके भाई शाह अब्दुल क़ादिर ने .कुरान का अनुवाद उर्दू में किया, जो १८२६ ई० में हुगली में छपा। इसी प्रकार सैयद अहमद की फ़ारसी पुस्तक 'तंबीहुल ग़ाफ़लीन' का उर्दू अनुवाद उनके शिष्य सैयद अब्दुला ने १८३० ई०में छपवाया। सैयद अहमद और मौलवी इस्माईल की अन्य पुस्तकें जो वस्तुतः धर्मप्रचार के लिए थीं, उन्हीं दिनों लिखी गईं, जिनसे उर्दू को बहुत सहायता मिली।

उपर्युक्त कारणों के अतिरिक्त छापाखानों के खुल जाने से उर्दू-पुस्तकों का बहुत प्रचार हुआ। अठारहवीं शताब्दी के अंत में फ़ोर्ट विलियम कालेज कलकत्ता में एक छापाखाना खुला, जिसमें कालेज के मुंशियों की पुस्तकें डाक्टर गिलक्राइस्ट के प्रबन्ध में छपती थीं, पर उसमें अधिक व्यय होता था, इसलिए प्रेस बन्द कर देना पड़ा। इसके अतिरिक्त टाइप बहुत भद्दे थे। उन्हीं दिनों सीरामपुर के पादरियों ने प्रेस खोला, जिसमें विविध हिन्दुस्तानी भाषाओं की पुस्तकें छपती थीं, पर १८१२ ई० में उसमें आग लग गई।

छापे का आरंभ

१८३७ ई० में दिल्ली में एक लीथो का प्रेस खुला, जिसमें पुरानी पुस्तकों के साथ अँग्रेज़ी और अन्य विदेशी भाषाओं की पुस्तकों के अनुवाद और पत्रिकायें छपने लगीं। लखनऊ में भी ग़ाज़ीउद्दीन हैदर के समय में एक टाइप का प्रेस खुला, जिसमें पहले 'हफ़्त कुलज़ुम' नामक कोश छपा। फिर अन्य पुस्तकें 'मनाक़िब हैदरिया' १८१६ ई० में अरबी में, 'महामिद हैदरी' फ़ारसी में १८२२ ई० में (उक्त अवध-नरेश की प्रशंसा में), 'गुलदस्ता मुहब्बत' लार्ड हेस्टिंग्ज और ग़ाज़ीउद्दीन के मुलाक़ात के वर्णन में फ़ारसी में, 'पंज सूरा' और अरबी के कोश 'ताजुल-लुग़ात' का अनुवाद फ़ारसी में छपा।

१८३० ई० में एक अंग्रेज़ मिस्टर आरचर ने एक लीथो प्रेस कानपुर में खोला। फिर नसीरुद्दीन हैदर की प्रेरणा से उन्होंने लखनऊ में भी एक प्रेस खोला। एक प्रसिद्ध पुस्तक जो उस समय उक्त प्रेस में लखनऊ में छपी, वह साइंस के लाभ पर लार्ड ब्रौहम की अंग्रेज़ी पुस्तक का सैयद कामालुद्दी हैदर द्वारा अनुवाद, उक्त सुलतानी प्रेस में १८४३ ई० में छपा। यह पुस्तक स्कूल बुक सोसाइटी कलकत्ता की आज्ञा से अनूदित हुई थी। इसकी भाषा बड़ी सरल और साफ़ उर्दू है। सबसे पहली पुस्तक जो लीथो में छपी वह 'शरह-अलफ़िया' थी। १८४८ ई० में लगभग बारह लीथो के छापेख़ाने लखनऊ में थे, जिनमें मतबा मुस्तफ़ाई और मीरहसन अधिक प्रसिद्ध हैं। १८४६ ई० में उक्त कमालुद्दीन हैदर ने, जो शाही रसदख़ाना (वेधशाला) के मीर मुंशी थे, अवध के नवाबों के परिवार का एक इतिहास लिखना आरंभ किया लेकिन उसकी कुछ बातें बादशाह को पसंद न आईं, इसलिए प्रेस तोड़ दिया गया और

इतिहास का छपना बंद हो गया, जिससे बहुत से प्रेस वाले कानपुर चले गए।

उस समय के छापाख़ानो के इतिहास में सबसे महत्वपूर्ण घटना मुंशी नवलकिशोर के प्रेस का खुलना है, जिसके कारण पुरानी फ़ारसी, अरबी तथा संस्कृत और हिंदी की वे पुस्तकें छप गईं, जिनका कोई पूछने वाला न था। इस प्रेस ने विद्या के पठन-पाठन के क्षेत्र को विस्तृत कर दिया। इसमें मुसलमानों के .कुरान, तफ़सीर, हदीस और फ़ुक़ा (इसलामी धर्मशास्त्र) इत्यादि और हिंदुओं के वेद, पुराण तथा वैद्यक इत्यादि की पुस्तकें बड़ी उदारता से प्रकाशित की गईं। अनूदित .कुरान के छपने से मुसलमानों को वही लाभ हुआ जो बाइबिल के अनुवाद से ईसाइयों को हुआ।

छापे की सुगमता से अनेक सामयिक पत्र उर्दू में जारी हो गए, जिस से जनता को बहुत कुछ जानकारी हुई और उनको दुनिया भर की ख़बरें मालूम होने लगीं। हिंदुस्तानी समाचार-पत्र, जो लीथो में छपने लगे, उनसे व्यापार का द्वार खुल गया और लेखकों को यह अवसर मिला कि वे अपनी भाषा को योरप के लेखों के अनुसार बनाएँ।

सामयिक पत्र-पत्रिकायें

१८३२ ई० से फ़ारसी के स्थान में उर्दू अदालती भाषा हुई, जिससे अरबी-फ़ारसी के शब्द और परिभाषायें उर्दू में सम्मिलित हो गईं और उनका प्रचार हो गया। पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव से उर्दू को बहुत लाभ पहुँचा, जिसमें सब से बड़ी बात यह हुई कि फ़ारसी के अनुकरण में जो विशेषतया शब्दों पर अधिक ध्यान दिया जाता था, वह त्याग दिया गया और लेख के आशय को प्रकट करना मुख्य समझा गया। इसके अतिरिक्त स्कूली पुस्तकें जो अँग्रेज़ी या किसी अन्य भाषा से अनूदित की गईं, उनका अनुवाद सिवा साफ़ और सरल के जटिल भाषा में हो नहीं सकता था। इस प्रकार से अब उर्दू फ़ारसी के भार से मुक्त होकर अपने पाँव पर खड़ी होने के योग्य होगई। इस सुधार को सर सैयद अहमद ख़ां के अदम्य उत्साह से बहुत सहायता मिली। सर सैयद उन्नीसवां शताब्दी में हिंदुस्तान के एक महत्वपूर्ण व्यक्ति और मुसलमानों के मार्ग-प्रदर्शक और सुधारक थे, जिनका संक्षिप्त वर्णन आगे किया जाता है।

सर सैयद अहमद ख़ां हिंदुस्तान के मुसलमानों के प्रसिद्ध नेता, सुवक्ता,

लेखक, दार्शनिक, सुधारक, और राजनीतिज्ञ थे। उनकी योग्यता और सर्व-प्रियता के कारण अनेक योग्य विद्वान् उनके गिर्द जमा हो गए थे, जिनकी साहित्यिक कृतियों से न केवल उर्दू का भंडार भरा बल्कि वे एक विशेष शैली के जन्मदाता हुए। यहाँ हम विशेषतया उनके केवल साहित्यिक जीवन का वर्णन करते हैं।

सैयद अहमद खां
१८१७-१८९८

सर सैयद दिल्ली में १८१७ ई०में पैदा हुए। उनका वंश प्रतिष्ठा की दृष्टि से बहुत प्रसिद्ध था। उनके पूर्वज, जो अरब के निवासी, थे पहले ईरान के अंतर्गत दमग़ान आए। फिर वहाँ से कुछ दिनों के बाद हमदान और हिरात पहुँचे। तत्पश्चात् शाहजहाँ के समय में हिन्दुस्तान आकर बड़े-बड़े पद पर नियत हुए। आलमगीर ने सर सैयद के पितामह को जौवादुद्दौला की उपाधि से विभूषित किया, जो संयोगवश सर सैयद को भी मिली। उनके पिता मीर-तक़ी बड़े संतोषी आदमी थे। कहा जाता है जब अकबर शाह द्वितीय ने उनको मंत्री का पद देना चाहा, तो उन्होंने इन्कार कर दिया। उनकी माता का नाम अजीज़ुन्निसा बेगम था, जो एक शिक्षित महिला थीं। उन्होने सर सैयद का पालन-पोषण किया और उस समय की आवश्यकता के अनुसार उनको शिक्षा दिलाई। सैयद साहब के सौभाग्य से उस समय दिल्ली में ग़ालिब, सहबाई, आज़ुर्दा, शेफ्ता तथा मोमिन इत्यादि बड़े-बड़े विद्वान् और कवि उपस्थित थे, मिर्ज़ा ग़ालिब और सैयद साहब में इतना मेल-जोल था कि सैयद उनको चचा कहते थे।

१८३८ ई० में सैयद साहब पहिले दिल्ली में सरिश्तेदार हुए। १८३९ ई० में मीरमुंशी और १८४१ ई० में मुंसफ़ी की परीक्षा पास करके मुंसिफ़ हो गए। १८४६ ई० से १८५४ ई० तक दिल्ली में सदर-अमीन (सदरुल सुदूर = सिविल जज) रहे। १८५५ ई० में वह बिजनौर बदल गए। फिर ग़ाज़ीपुर, बनारस, मुरादाबाद और अलीगढ़ में उनकी बदली होती रही। १८७८ ई० में उन्होने नौकरी से विश्राम ले लिया और अंत में १८९८ ई० में उनकी मृत्यु हो गई।

उनकी कृतियों की सूची इस प्रकार है:—

(१) आसारुल सनादीद—इसमें दिल्ली के प्राचीन स्थानों और अपने समय के मुसलमान फ़क़ीरों, विद्वानों और कवियों का वर्णन है। इसका अनुवाद

अँग्रेज़ी में और फ्रेंच में गार्सां द तासी ने किया, जो १८६१ ई० में प्रकाशित हुआ है।

(२) जलाउल .कुलूब—१८४२ ई०—इसमें महम्मद साहब के जन्म का वर्णन है।

(३) तुहफ़ा हसन—१८४४ ई०।

(४) तहसील फ़ी जिरहुस्सायल, मैयारुल अकूल का अनुवाद १८४६ ई० में।

(५) फ़वायदुल अफ़कार और क़ौल मतीन और कलमतुल हक—१८४६ ई० में।

(६) राह सुन्नत—१८५० ई० में।

(७) सिलसिला मलूक हिंद, १८५२ ई० में, जिसमें महाराज युधिष्ठिर के समय से दिल्ली के मुसलमान बादशाहों का संक्षिप्त वर्णन है।

(८) कीमियाय सआदत का अनुवाद—१८५२ ई० में।

(९) तारीख़ बिजनौर—१८५५ ई० में।

(१०) असबाब बग़ावत हिंद—१८५८ ई० में, जो १८६३ ई० में प्रकाशित हुआ।

(११) वफ़ादार मुसलमानान हिंद।

(१२) तफ़सीर बाइबिल 'तबइनुल कलाम' के नाम से, जिसको पुराने ढर्रे के मुसलमानों ने नापसंद किया, लेकिन यूरोपवालों ने उसका आदर किया।

(१३) रिसाला तआम बा अहल किताब—१८६६ ई० में, जिसका आशय था ईसाइयों के साथ खाने के पक्ष में। इससे मुसलमान मुल्लाओं में बड़ी हलचल पैदा हो गई और सर सैयद बहुत बदनाम हो गए।

(१४) सर विलियम म्योर के 'लाइफ़ आव् महम्मद' का उत्तर।

(१५) तफ़सीर .कुरान जो केवल आधे तक पहुँच कर रह गया। इसमें .कुरान की बहुत सी बातों पर बाइबिल की कहानियों से प्रकाश डाला गया है और जिहाद, बहिश्त, दोज़ख़ और मेराज इत्यादि पर जो आक्षेप किए गए हैं उनका उत्तर दिया गया है, तथा .कुरान के अपौरुषेय होने की विवेचना की गई

है। इस पुस्तक से, जिसका पहला खंड १२८७ हि० में प्रकाशित हुआ, पुराने विचार के मुसलमान सैयद साहब के बहुत विरुद्ध हो गए और उनको काफ़िर, मुलहिद (नास्तिक) और नेचरी इत्यादि कहने लगे।

इन पुस्तकों के लिखने के अतिरिक्त उन्होंने ब्लाकमैन द्वारा आईन-अकबरी के अँग्रेज़ी अनुवाद में बहुत सहायता दी थी।

जब वह ग़ाज़ीपुर में थे तो वहाँ उन्होंने 'साइंटफ़िक सोसाइटी' के नाम से एक संस्था स्थापित की, जिसका उद्देश्य था अँग्रेज़ी की प्रामाणिक पुस्तकों का उर्दू में भाषांतर करना। उसके सभासदों ने विविध उपयोगी विषयों पर अनेक पुस्तकें लिखीं। सर सैयद जब अलीगढ़ आए तब यह संस्था भी उनके साथ वहाँ आ गई। १८६१ ई० में उन्होंने एक स्कूल मुरादाबाद और १८६४ ई० में एक ऐसा ही गाज़ीपुर में स्थापित किया और विविध स्थानों पर अँग्रेज़ी शिक्षा के लाभ पर व्याख्यान दिए।

१८६६ ई० में उन्होंने एक सभा 'ब्रिटिश इंडियन एसोसिएशन' के नाम से खोली और उक्त साइंटफ़िक सोसाइटी की ओर से एक मासिक पत्र 'अलीगढ़ इन्स्टीच्यूट गज़ट' के नाम से निकाला, जिसमें वह स्वयं भी कुछ लिखते थे और अंग्रेज़ी पत्रों से अच्छे लेखों का अनुवाद कराके प्रकाशित करते थे। १८६९ ई० में वह अपने बेटे सैयद महमूद के साथ विलायत गये और वहाँ के रहन-सहन, संस्कृति तथा शिक्षा के प्रबंध का ख़ूब निरीक्षण किया और उसी ढंग का यहाँ भी मुसलमानों के लिए एक कालेज खोलने का विचार किया। १८७० ई० में उन्होंने अपनी प्रसिद्ध मासिक पत्रिका 'तह्ज़ीबुल इख़-लाक़' जारी किया, जिससे यहाँ के मुसलमानों के विचारों में बहुत परिवर्तन हुआ। इसके प्रकाशन का उद्देश्य यह था कि धार्मिक विचारों में उदारता उत्पन्न हो और वे पाश्चात्य शिक्षा की ओर झुकें। इसमें सर सैयद स्वयं लेख लिखते थे और नवाब वक़ारुल मुल्क और मालवी चिराग़ अली इत्यादि तथा नवाब मुहसनुल मुल्क अपने विचार बड़ी सफ़ाई से प्रकट करते थे।

सर सैयद के लेख बड़े ज़ोरदार लेकिन साफ़ और सादा होते थे। यह सच है कि उनमें व्याकरण की कुछ अशुद्धियाँ भी हैं, लेकिन वह इसकी परवाह नहीं करते थे। पर यही चीज़ उनकी प्रसिद्धि का कारण हुई। उन्होंने पुराने

ढंग की लच्छेदार लेखन-शैली को ठुकराया और यह सिद्ध कर दिया कि इसकी अपेक्षा सादे और सरल लेखों में अधिक गुण और प्रभाव है। तदनुसार उनके लेख कभी उद्देश्यहीन न होते थे। भाषा पर उनका अधिकार था ही। वह उर्दू गद्य लिखने में इतने अभ्यस्त थे कि उनके पहले कोई उनके समान न था। बड़ा गुण उनमें यह था कि जटिल से जटिल विषय को स्पष्ट और सुबोध बना देते थे। उनके और ग़ालिब के संबंध को देखकर यह मानना पड़ता है कि ग़ालिब की विशेष-शैली का प्रभाव सैयद साहब पर बहुत कुछ पड़ा।

सर सैयद की लेखन शैली

दुनिया के बड़े लोगों की सबसे बड़ी पहचान यह है कि वह अपने साथ वालों में भी अपना ही अदम्य उत्साह और सचाई पैदा कर देते हैं। यही हाल सर सैयद के साथियों का भी था, जिनकी मंडली ने अपने साहित्यक और राजनीतिक कामों से हिन्दुस्तान में एक हल-चल पैदा कर दी थी। उनके साथियों में विशेषतया नवाब मुहसिनुल मुल्क, नवाब वक़ारुल मुल्क, मौलवी चिराग़ अली, मौलवी ज़काउल्ला, ख्वाजा अलताफ़ हुसेन हाली, शिबली नोमानी, मौलाना नज़ीर अहमद और मौलवी ज़ैनुल आब्दीन थे, जिनमें से कुछ का वर्णन इस पुस्तक में आ चुका है। हाली जातीय कवि थे। नज़ीर अहमद अपने उपदेशात्मक कहानियां और उपन्यास के लिए प्रसिद्ध थे। शिबली और ज़काउल्ला समालोचना और इतिहास में दक्ष थे। चिराग़अली और मुहसनुल मुल्क के बहुमूल्य लेखों से उर्दू साहित्य सदा ऋणी रहेगा। इन सब विद्वानों का उद्योग जो मुसलमानों के सुधार के लिए था, वह बहुत ही सफल सिद्ध हुआ और इनकी पुस्तकों से उर्दू भाषा के भंडार में अमूल्य वृद्धि हुई।

सर सैयद के सहयोगी मित्र

इनका मूल नाम सैयद मेंहदी अली ख़ाँ था। १८३७ ई० में इटावे में पैदा हुए। साधारण शिक्षा समाप्त करके ईस्ट इंडिया कम्पनी के समय में दस रुपया महीने के क्लर्क हुए। फिर सरिश्तेदार और १८६१ ई० में तहसीलदार हो गए। उन्होंने बड़ी योग्यता के साथ अपना काम किया और उसी बीच में उर्दू की दो पुस्तकें—क़ानून माल और कानून फ़ौजदारी के संबंध में लिखीं, जो उस समय

मुहसिनुल मुल्क १८३७-१९००

बहुत प्रसिद्ध हुईं। १८६३ ई० में डिप्टी कलेक्टरी की परीक्षा पास करके १८६७ ई० में मिर्ज़ापुर के डिप्टी कलेक्टर हुए। उनकी योग्यता की प्रसिद्धि दूर-दूर तक पहुँच गई थी। अतः सर सालार जंग ने उनको हैदराबाद बुला लिया और वहाँ वह मालियात के उच्च पदाधिकारी नियत हो गए। वहाँ उन्होंने बहुत से उपयोगी काम किए। बंदोबस्त और खेतों के नाप-जोख में अनेक संशोधन किये और फ़ारसी के स्थान पर उर्दू को दफ्तर की भाषा कर दिया। १८७६ ई० में वह रेवन्यू सेक्रेटरी और १८८४ ई० में फ़ाइनेन्शियल और पोलिटिकल सेक्रेटरी हो गए, और निज़ाम सरकार से उनको 'मुहसिनुल दौला मुहसिनुल मुल्क मुनीर निवाज़जंग' की उपाधि मिली। एक बार विलायत की भी यात्रा की थी। अंत में राजनीतिक षड्यंत्र से अपने पद से पृथक् हो गए और आठ सौ रुपया मासिक पेंशन पाकर अलीगढ़ में रहने लगे, जहाँ आयु-पर्यंत कालेज के प्रबंध और शिक्षा-संबंधी कामों में लगे रहे।

सर सैयद अहमद खाँ से उनका बहुत पुराना व्यवहार था। कहते हैं कि जब आरंभ में सर सैयद इसलाम धर्म के सिद्धांतों में कुछ हेर-फेर कर रहे थे तो कट्टर मुसलमानों की तरह मुहसिनुल मुल्क भी उनको काफ़िर समझते थे। लेकिन जब उसकी असलियत उनको मालूम हो गई, तब वह उनके बड़े प्रशंसक और सहायक हो गए। 'तहज़ीबुल इख़लाक़' नामक पत्रिका में उन्होंने धार्मिक और ऐतिहासिक विषय के अनेक बहुमूल्य लेख लिखे हैं, जिनका उद्देश्य केवल यह था कि वर्तमान काल के मुसलमान जो दरिद्रता के गड्ढे में पड़े हुए हैं, अपने पूर्वजों का अनुकरण करके हर प्रकार से अर्थात् शिक्षा, सदाचार और राजनीति में अपने को योग्य बनावें। निस्संदेह इस प्रकार के उनके लेख उनकी अपूर्व योग्यता, उदारता और न्यायप्रियता के सूचक हैं। मौलाना हाली ने बहुत ठीक कहा है कि 'सैयद मेंहदी अली मुसलमानों के उत्साह को, उनके पूर्वजों के बड़े-बड़े महत्वपूर्ण कामों को याद दिलाकर, उभारते थे और जो कुछ उन्होंने सर सैयद के पक्ष में लिखा है वह बहुत ही प्रामाणिक है। उनके लेख, जिनका संग्रह एक बड़ी पुस्तक के बराबर है, बड़ी खोज और परिश्रम से लिखे गए हैं।' इसी प्रकार मौलाना शिबली भी उनकी बहुत प्रशंसा करते हैं और कहते हैं कि मुहसनुल मुल्क साहित्य-क्षेत्र में किसी बड़े से बड़े गद्य लेखक से

कम न थे और उनका एक विशेष शैली है।'

उनकी लेखन-शैली की विशेषता यह थी कि वह बहुत ही ज़ोरदार होती थी, लेकिन फिर भी उसकी सफ़ाई, प्रवाह तथा सौंदर्य में कुछ अंतर नहीं होता था। यदि कहीं पुराने ढंग की रंगीनी पैदा करना चाहते थे, तो उसके रूपक और अलंकार भद्दे नहीं मालूम होते थे, बल्कि उनसे उनके लेख की और शोभा बढ़ जाती थी। इससे यह न समझना चाहिए कि वह इस प्रकार के लेख प्रायः लिखा करते थे। उनके अधिकांश लेख बहुत ही सरल और स्पष्ट होते थे।

इस लेख माला के अतिरिक्त उनकी एक ही प्रसिद्ध धार्मिक पुस्तक 'आयात बैयनात' है। कहा जाता है कि उन्हीं के अनुरोध से मौलवी ज़फ़र अली खां ने ड्रेपर की प्रसिद्ध पुस्तक 'धर्म और विज्ञान का संघर्ष' का अनुवाद उर्दू में किया है। अंत में मुहसिनुलमुल्क का देहांत १६०७ ई० में हुआ और सर सैयद अहमद खां के समीप ही दफ़न हुए।

विक़ारुल मुल्क १८३६-१६१७

नवाब विक़ारुल मुल्क, जिनका मूल नाम मौलवी मुश्ताक़ हुसैन था, शेख़ फ़ज़ल हुसैन के लड़के थे, और अमरोहा के निकट एक गाँव में एक कंबोह-परिवार में पैदा हुए थे। पहले यह किसी स्कूल में पढ़ाते थे। फिर अकाल के समय अमरोहा में कोई सरकारी नौकरी मिली। धीरे-धीरे सरिश्तेदार और सिविल जजों की अदालत में मुंसरिम हो गए और सर सैयद के साथ काम करने लगे। अंत में उन्हीं की सिफ़ारिश से हैदराबाद पहुँचे, जहाँ सर सालार जंग ने उनको नाज़िम दीवानी बना दिया। वहाँ उन्होंने अपनी मेहनत और ईमानदारी से अपने अफ़सरों को प्रसन्न रक्खा, पर राजनीतिक षड्यंत्र से उनको भी वहाँ से पृथक् होना पड़ा, लेकिन जल्दी ही वापस बुला लिए गए। अब उन्होंने राज-काज में बहुत कुछ उपयोगी संशोधन किए, जिसके उपलक्ष में सरकार निज़ाम से उनको 'विक़ारुद्दौला विक़ारुल मुल्क' की उपाधि मिली। १८६१ ई० में अवसर प्राप्त करके उन्होंने शेष जीवन अलीगढ़ कालेज की सेवा में समाप्त किया। वह १८६६ ई० में साइंटिफ़िक सोसाइटी के मेंबर तथा 'तहज़ीबुल इख़लाक़' के मैनेजर भी हो गए थे, जिसमें उनके अनेक बहुमूल्य लेख प्रका-

शित हुए हैं। उन्होंने एक अंग्रेज़ी पुस्तक 'फ्रेंच रिवल्यूशन ऐंड नेपोलियन' का उर्दू अनुवाद मुंशी गुलज़ारी लाल और बाबू गंगाप्रसाद की सहायता से 'सरगुज़श्त नेपोलियन' के नाम से किया था, जो १८७१ ई० में प्रकाशित हुआ था।

मौलवी चिराग़ अली की उपाधि 'नवाब आज़मयार जंग' थी। १८४४ ई० में पैदा हुए। पिता का नाम मौलवी मुहम्मद बख्श था, जो मेरठ, सहारनपुर और पंजाब में सरकारी नौकरी करके १८५६ ई० में मरे थे। उनके चार लड़कों में चिराग़ अली सब से बड़े थे। प्रारंभिक शिक्षा समाप्त करके वह बस्ती के सरकारी ख़ज़ाने में पहले बीस रुपये महीने के नौकर हुए। १८७२ ई० में जुडीशियल कमिश्नर अवध के डिप्टी मुंसरिम और सीतापुर के तहसीलदार हो गए। १८७७ ई० में सर सैयद अहमद ख़ां के उद्योग से हैदराबाद में नवाब मुहसिनुल मुल्क के नायब सेक्रेटरी माल चार सौ रुपया महीने पर हो गए। १८९८ ई० में उनकी मृत्यु हो गई।

चिराग़ अली
१८४४-९८

मौलवी चिराग़ अली बड़े योग्य, ईमानदार और सच्चे आदमी थे। पुस्तकावलोकन के इतने प्रेमी थे कि सीरिया और मिस्र तक से पुस्तकें मँगा कर पढ़ते थे। आरंभ ही से वह धर्म-संबंधी लेख लिखते रहे थे। कभी-कभी ईसाई पादरियों से उनकी मुठभेड़ हो जाती थी, जिसमें वह इसलाम धर्म के गुणों को ख़ूब सिद्ध करते थे। हैदराबाद की नौकरी के समय उन्होंने वहाँ के शासन-प्रबंध और सरकारी रिपोर्टों के अतिरिक्त 'तहक़ीक़ुल जिहाद', 'मुसलमानों ने अपने राज्यकाल में क्या-क्या सुधार किए', 'रसूल बर हक़' 'इसलाम की दुनियावी बरकतें', 'क़दीम क़ौमों की मुख्तसर तारीख़' नामक पुस्तकें लिखीं। इनके अतिरिक्त 'तहज़ीबुल इख़लाक़' में अनेक लेख लिखे और उर्दू, अंग्रेज़ी में कुछ लघु-पुस्तकें लिखीं। उनकी चिट्ठियाँ 'मजमूआ रसायल' के नाम से छप गई हैं। मौलवी चिराग़ अली एक बड़े विद्वान् होने के अतिरिक्त शास्त्रार्थ में बड़े निपुण थे। उनके लेख भी बड़े ज़ोरदार होते थे, यद्यपि उनमें साहित्यिक शोभा कम होती थी।

शम्सुल उल्मा मौलवी मुहम्मद हुसैन, उपनाम 'आज़ाद' दिल्ली में

पिछली शताब्दी के तीसरे दशक में पैदा हुए थे। यह मौलवी बाक़र अली के बेटे थे, जो ज़ौक़ के घनिष्ट मित्र और उत्तर भारत के पत्र-कारों के अगुवा थे। आज़ाद की आरंभिक शिक्षा ज़ौक़ के देख-रेख में हुई और उन्हीं के सत्संग से उन्होंने कविता करना सीखा तथा छंद-शास्त्र का अध्ययन किया। उन्होंने पुराने दिल्ली कालेज में शिक्षा पाई थी। ज़ौक़ के साथ दिल्ली के मुशायरों में सम्मिलित होते थे, और वहाँ के बड़े-बड़े कवियों से उनका परिचय था। १८५७ ई० के ग़दर में उनके पिता का देहांत हो चुका था। उसी उपद्रव में उनके उस्ताद ज़ौक़ और स्वय उनकी रचनायें, जो कुछ थीं, नष्ट हो गईं। फिर वह आजीविका के लिए बाहर निकल पड़े और लखनऊ पहुँचे। कुछ दिनों तक एक फ़ौजी स्कूल में मास्टर रहे। फिर उसको छोड़ कर १८६४ ई० में लाहौर चले गए और मौलवी रजब अली के द्वारा पं० मनफूल से मिले, जो पंजाब के गवर्नर के मीरमुंशी थे। उन्हीं के उद्योग से वह शिक्षा विभाग में पंद्रह रुपया महीने के नोकर हो गए। संयोगवश मास्टर प्यारेलाल 'आशोब' के द्वारा, जो उनके शुभचिंतक मित्र थे, वहाँ के शिक्षा-विभाग के डाइरेक्टर मेजर फ़ुलर साहब से मिले, जो प्राच्य भाषाओं के बड़े प्रेमी थे। मेजर साहब ने उनसे उर्दू-फ़ारसी की अनेक पुस्तकें लिखवाईं, जो विद्यार्थियों में बहुत सर्वप्रिय हुईं।

'आज़ाद'
मृत्यु १९१०

आज़ाद ने वहाँ 'अंजुमन पंजाब' की स्थापना में बहुत भाग लिया, जिससे पजाब में उर्दू का बहुत प्रचार हुआ। १८७४ ई० में पंजाब में कर्नल हालरीड शिक्षाविभाग के डाइरेक्टर होकर आए, तब आज़ाद ने उनको इस बात पर तैयार किया कि उक्त अंजुमन के संरक्षण में एक मुशायरा हुआ करे, जिसमें पुराने ढंग की अलंकृत और अत्युक्तिपूर्ण रचना के स्थान में सादी कविता पढ़ी जाय। १८६५ ई० में वह किसी सरकारी काम से कलकत्ता और फिर पं० मनफूल के साथ एक पोलिटकल मिशन पर काबुल और बुख़ारा गए। १८६५ ई० और १८८३ ई० में वहाँ दोबारा ईरान गए। फ़ारसी भाषा से उनको विशेष लगाव था। ईरान में जाकर वह आधुनिक फ़ारसी से भी परिचित हो गए। कर्नल हालरीड ने उनको 'अतालीक़ पंजाब' नामक सरकारी पत्र का सहायक-संपादक नियत कर दिया, जिसके संपादक रायबहादुर प्यारेलाल

'आशोब' थे। जब यह पत्र बंद हो गया और उनकी जगह 'पंजाब मेगज़ीन' निकली, तो आज़ाद उसके भी सहायक-संपादक हुए। फिर वह गवर्नमेंट कालेज लाहौर में फ़ारसी-अरबी के प्रोफ़ेसर हो गए। १८८७ ई० में महारानी विक्टोरिया की जुबली पर उनको 'शम्सुल उल्मा' की उपाधि मिली। मस्तिष्क संबंधी लगातार परिश्रम करने तथा ईरान की यात्रा और अपनी पुत्री की असमय मृत्यु से १८८६ ई० से वह कुछ पागल हो गए। अंत में २८ जनवरी १९१० ई० को उनका देहांत हो गया।

रचनाएँ

आज़ाद की रचनाओं की सूची इस प्रकार है:—(१) फ़ारसी रीडर, २ भाग (२) पुरानी उर्दू रीडर, ३ भाग (३) क़ायदा और क़वायद उर्दू (४) क़ससे हिन्द, २ भाग (५) जामउल क़वायद (६) उर्दू की नई रीडरें, ३ भाग (७) आबेहयात (८) नैरंग ख़याल (९) सख़ुनदान फ़ारस (१०) क़न्द पारसी (११) नसीहत का करनफूल (१२) दीवान ज़ौक़ (१३) नज़्मे आज़ाद (१४) दरबारे अकबरी, (१५) निगारिस्तान फ़ारस (१६) सिपाको नमाक (१७) जानवरिस्तान और (१८) अल हयात। उन्होंने जो पुस्तकें और व्याकरण विद्यार्थियों के लिए लिखीं बहुत ही सरल और सुबोध थीं, जो अरसे तक कोर्स में स्वीकृत रहीं। 'क़ससे हिन्द' में हिन्दुस्तान के प्रसिद्ध ऐतिहासिक घटनाओं का रोचक वर्णन है। यह पुस्तक विद्यार्थियों को बहुत ही प्रिय है और इसके कई संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। वाक्यों की समता, सुसंगठन, शब्दों का ओज और विषयों का क्रम ऐसा सुंदर है कि वैसा अन्य पुस्तकों में नहीं है।

आबे-हयात

मौलाना की सर्वश्रेष्ठ रचना 'आबे-हयात' है। इसमें प्रसिद्ध कवियों का संक्षिप्त वर्णन, उनकी रचना के नमूने और उनकी आलोचना है। उर्दू-भाषा का इतिहास और समय-समय पर उसमें परिवर्तन की विवेचना है। इसके लिखने से एक बहुत बड़ी कमी पूरी हो गई, क्योंकि उसके पहले जो तज़किरे लिखे गए, वह न तो अधिक प्रामाणिक हैं और न परिपूर्ण। उनमें कवियों का हाल कुछ थोड़ी सी पंक्तियों में है। अधिकांश उनकी प्रशंसा में लिखा गया है। उर्दू साहित्य आज़ाद का बहुत ऋणी है कि उन्होंने एक नियमित विस्तृत तज़किरे का संकलन किया है,

जिसके लिए उन्होंने बहुत परिश्रम किया होगा। वह सूचनाओं का ऐसा भंडार है, जिससे पिछले लेखकगण बहुत सहायता ले सकते हैं और लेते रहे हैं। इसके अतिरिक्त उसकी लेखन-शैली ऐसी रोचक है कि सभी ने उसके अनुकरण का उद्योग किया है। लेकिन उस तक कोई नहीं पहुँच सका। सच तो यह है कि आज़ाद ने 'आबेहयात' लिखकर उर्दू साहित्य में एक नवीन शैली की अभिवृद्धि की है, जो हाली की तरह बिल्कुल सादी तो नहीं है और न नज़ीर अहमद की तरह जटिल और भारी है, किंतु उसका एक जुदा रंग है। सारांश यह कि उसके अनेक गुण है, जिनका आनंद हृदय ही उठा सकता है।

लेकिन साथ ही खेद से कहना पड़ता है कि मौलाना ने अपने जोश में ऐतिहासिक सामग्री का ध्यानपूर्वक अध्ययन नहीं किया। शिथिल और अप्रामाणिक बातों के आधार पर एक ऊँचा भवन खड़ा कर दिया है और कहीं-कहीं पुस्तक को रोचक बनाने के लिए घटनाओं को कुछ घटा-बढ़ा दिया है तथा उनको बदल भी दिया है। वर्तमान काल के अनुसंधान से यह मालूम होता है कि उसके अधिकांश वर्णन अशुद्ध या कम से कम संदिग्ध हैं और उनमें पक्षपात भी है। जैसे अपने उस्ताद ज़ौक़ की अतिरंजित प्रशंसा के सामने ग़ालिब की योग्यता को गिरा दिया है; और कहीं-कहीं चुपचाप उन पर चोटें भी की हैं। मिर्ज़ा दबीर के वंश को नीचा दिखा दिया है और इन्शा के समय के वर्णन में बहुत सी बातें अप्रामाणिक लिखी हैं। इस प्रकार की और भी अनेक बातें अब विषय के अध्ययन से निकल आई है। इनके अतिरिक्त इस पुस्तक में अनेक वर्णनों में परस्पर विरोध भी है

लेकिन ऐसी त्रुटियों से हमारी राय में पुस्तक के गुण और मूल्य में कोई अधिक अंतर नहीं आता है। वास्तव में समालोचना शैली की परिचायक यह उर्दू में प्रथम पुस्तक है। मौलाना हाली की 'यादगार ग़ालिब' नामक पुस्तक को इसी 'आबेहयात' के अवलोकन का परिणाम समझना चाहिए। सारांश यह कि एक पुराने तज़किरे तथा एक सूचनाओं के भंडार की दृष्टि से, जो किसी के अनुकरण में संकलित नहीं किया गया, यह पुस्तक अद्वितीय है, और आगे भी ऐसी पुस्तक का लिखा जाना कठिन है।

'नैरंगे ख़याल' एक नए ढंग की पुस्तक है, जिसमें काल्पनिक कहानियों

और स्वप्न इत्यादि के द्वारा नैतिक परिणाम निकाले गए हैं। यह दो भागों में १८८० ई० में लिखी गई थी। इस प्रकार की कहानियाँ हर समय और हरेक जाति में सर्वप्रिय रहीं। यूनानी और रोमी लोगों में इसका बहुत प्रचार रहा। अंग्रेज़ी में एडीसन, जान बनयन, स्पेन्सर, फ़ारसी में 'मसनवी-मौलाना रूम' और 'अनवार-सुहेली' संस्कृत में 'हितोपदेश' और अरबी में 'अखवानुस्सफ़ा' ऐसी कथाओं के लिए बहुत प्रसिद्ध हैं। हमारे विचार में इस पुस्तक की कहानियों का आधार यूनानी कथाएँ हैं और इससे आज़ाद के यूनानी पौराणिक गाथाओं के ज्ञान का पता चलता है। वस्तुतः डा० लेटर ने आज़ाद को इस पुस्तक के लिखने की प्रेरणा की थी और इसका एक ढाँचा तैयार कर दिया था। लेकिन सबसे प्रशंसनीय बात यह है कि मौलाना आज़ाद अंग्रेज़ी कम जानने पर भी इसके लिखने में सफल हुए। यह पुस्तक उनकी विशेष शैली में लिखी गई है, जिसमें विषय से अधिक उनके लिखने का ढंग रोचक है।

अन्य पुस्तकें

फ़ारसी साहित्य के लिए 'सखुनदान फ़ारस' भी एक रोचक पुस्तक है। वास्तव में यह बहुमूल्य लघु-पुस्तक भाषा-विज्ञान विषय पर है, जिसमें फ़ारसी और संस्कृत भाषाओं का एक ही स्रोत से निकलना दिखलाया गया है। इसमें ईरानियों के रीति-रिवाजों का भी वर्णन है और उनकी तुलना हिंदुस्तान के रीति-रिवाजों से की गई है। लेखक ने अपनी ईरानयात्रा और वहाँ के साहित्यिक अनुसंधान का भी इसमें वर्णन किया है। मौलाना शिबली की 'शेरुल अजम' के समान यह पुस्तक परिपूर्ण तो नहीं है, फिर भी बहुत उपयोगी और सूचनाओं का अच्छा भंडार है।

'कंद पारसी' आधुनिक फ़ारसी भाषा के सीखने के लिए बहुत सहायक है। इसमें उनकी ईरान-यात्रा का भी कुछ हाल है। 'नसीहत का करनफूल' वार्तालाप के ढंग पर एक उपदेशात्मक रचना है जो बच्चों और स्त्रियों के लिए उपयोगी है। इसकी लेखन-शैली बहुत सरल और साफ़ है।

'दीवाने ज़ौक' का संपादन करके आज़ाद ने उर्दू-साहित्य की बड़ी सेवा की है। इसमें उन्होंने अपने उस्ताद की रचना को अज्ञात होने से बचा लिया है। 'आबेहयात' में उन्होंने बहुत ही खेद के साथ अपने उस्ताद की कविता

के नष्ट हो जाने और फिर बड़े परिश्रम और खोज से उसके कुछ टुकड़ों के इकट्ठा करने का वर्णन किया है। आरंभ में एक संक्षिप्त भूमिका भी है, जिसमें कुछ ग़ज़लें किन-किन अवसरों पर लिखी गईं, इस पर भी प्रकाश डाला गया है। पहले की छपी हुई कविता से इसमें कुछ अधिक भी हैं। कुछ लोगों का अनुमान है कि उसमें आज़ाद ने कुछ कविता ज़ौक़ के नाम से पीछे बढ़ा दी है, परंतु हमारी राय में यह संदेह निर्मूल है, और इस पर अधिक ध्यान न देना चाहिए। 'दरबार अकबरी' में अकबर के दरबारियों का वृत्तांत है। इसकी लेखन-शैली भी अनुपम है। खेद है कि इसका संशोधन न हो सका। इसमें अकबर के समय के सजीव चित्र दिखलाए गए हैं।

'खिपाको नमाक' और 'जानवरिस्तान' उस समय की रचनाएँ हैं, जब आज़ाद का मस्तिष्क ठीक न था। पहली पुस्तक अस्त-व्यस्त विचारों का एक संग्रह है। इससे पता लगता है कि उनको पुस्तक लिखने का इतना शौक़ था कि जब कभी कुछ क्षण के लिए उनका मस्तिष्क ठीक रहता था तो वह उसको साहित्यिक कामों में लगा देते थे। उसी समय की उनकी पुस्तक 'जानवरिस्तान' भी है, जिसमें कुछ पशुओं और उनकी बोली का वर्णन है।

अन्य रचनाएँ

'निगारिस्तान फ़ारस' उनके मरने के बाद प्रकाशित हुई। इसमें ईरान और हिंदुस्तान के फ़ारसी कवियों का वर्णन रोदकी से लेकर हुज़ीं तथा वाक़िफ़ और आरज़ू तक कुल छत्तीस कवियों की चर्चा और कुछ उनकी कविता के नमूने भी हैं। इसकी भाषा बड़ी सरल पर 'आबेहयात' की तरह रोचक नहीं है। शायद इसका कारण यह हो कि यह उनकी प्रारंभिक रचना है। उनकी अंतिम पुस्तक 'इलाहियात' है जो उनके पोते ने प्रकाशित की है।

आज़ाद का स्थान उर्दू गद्य-लेखकों में बहुत ऊँचा है। नए ढंग का गद्य लिखने में वह अगुआ थे। इसके अतिरिक्त फ़ारसी के धुरंधर विद्वान्, पुराने और नए ढंग के ज्ञाता, शिक्षा-नीतिज्ञ, जिनके कारण पंजाब में अंग्रेज़ी के साथ उर्दू-फ़ारसी की शिक्षा का प्रचार हुआ, प्रसिद्ध निबंध-लेखक, महान समालोचक, प्रसिद्ध प्रोफ़ेसर, उर्दू साहित्य के हितचिन्तक और अद्वितीय वक्ता थे। लेकिन जिस

उर्दू गद्यकारों में आज़ाद का स्थान

चीज़ ने उनको अमर कर दिया वह उनकी लेखन-शैली है, जिसका अनुकरण कठिन है। उनकी लिखने की विशेषता यह है कि फ़ारसी-अरबी के अपरिचित शब्दों, उनके संगठन और लच्छेदार अलंकारों का उसमें अभाव है, बल्कि उसमें हिंदी भाषा की सादगी, अंग्रेज़ी का स्पष्टभाव और फ़ारसी का सौंदर्य मिला-जुला है। यद्यपि उसमें बनावट और ढीलापन नहीं है, फिर भी ललित रूपक और सुंदर उपमाओं से सुशोभित है। यही नहीं, उसम सुरीलापन भी है। आज़ाद की तुलना अंग्रेज़ी लेखकों में डेकिन्सी, लैम्ब और स्टीवेंसन से हो सकती है, जो अपनी-अपनी विशेष शैली के लिए प्रसिद्ध हैं। अपने समय में आज़ाद बहुत लोकप्रिय हो चुके थे। हाली ने 'आबेहयात' और 'नैरंग ख़याल' की समालोचना में उनकी बहुत प्रशंसा की है और उनको नए ढंग की कविता का प्रवर्तक माना है। शिबली ने उनको उर्दू-साहित्य का एक बड़ा नायक कहा है, और उनकी मृत्यु पर उनको 'ख़ुदाय-उर्दू' कहकर याद किया है। मौलवी नज़ीर अहमद और ज़काउल्ला भी उनके बड़े प्रशंसक थे।

आज़ाद बड़े हँसमुख, बहुत शिष्ट, गंभीर स्वभाव और उदार-चित्त थे। यह अवश्य है कि उनको शीघ्र क्रोध आ जाता था, पर वह जल्दी ही शांत भी हो जाता था। कुछ समकालीन विद्वानों से उनको अनबन भी हो जाती थी, जिसमें कुछ वाद-विवाद हो जाया करता था।

हाली

ख़्वाज़ा अलताफ़ हुसैन हाली का चर्चा पद्य-विभाग में हो चुका है। यहाँ एक गद्य-लेखक के रूप में उनका कुछ वर्णन किया जाता है।

रचनाएँ

उनकी गद्य कृतियाँ इस प्रकार हैं:—(१) 'तिरयाक़ मसमूम' (१८६८ ई०) (२) 'इल्म तबक़ातुल अर्ज़' (एक अरबी पुस्तक का अनुवाद) (३) 'मजलिस-उन्निसा, दो भागों में, (१८७४ ई०) (४) हयाते सादी (१८८६) (५) मुक़दमा शेरो शायरी (६) यादगार ग़ालिब (१८९६) (७) हयाते जावेद-सर सैयद अहमद ख़ां की जीवनी (८) मज़ामीन हाली—उनके स्फुट लेख जो समय-समय पर पत्र-पत्रिकाओं में छपे थे।

'तिरयाक़ मसमूम' पानीपत के एक आदमी के आक्षेपों का खंडन है, जो मुसलमान से ईसाई हो गया था। इस पुस्तक की लेखन-शैली में कोई

विशेष प्रतिभा नहीं है। 'तबक़ातुल अर्ज़' (भूगर्भ विद्या) एक अरबी पुस्तक का भाषांतर है, जो स्वयं .फ्रेंच से अनूदित हुआ था। यह पुस्तक डा० लीटर के समय में पंजाब यूनीवर्सिटी की ओर से प्रकाशित हुई थी। 'मजलिसुन्निसा' एक इनामी पुस्तक है, जिस पर मौलाना को चार सौ रुपया तत्कालीन वाइसराय ने दिया था। यह स्त्रियों के लिए उपयोगी पुस्तक है और बहुत दिनों तक लड़कियों के स्कूलों में पाठ्य-पुस्तक रही। इसमें बहुत से ऐसे शब्द और मुहावरे हैं जो भद्र महिलाएँ बोला करती हैं। 'हयाते सादी' शेख़ सादी की जीवनी है, जिसको लिखकर मौलाना ने गद्य-लेखकों की अग्रश्रेणी में स्थान पाया। 'मुक़द्दमा शेरो शायरी' मौलाना के दीवान की एक स्मरणीय भूमिका है, जिससे उर्दू के साहित्यिक जगत में एक हल-चल उत्पन्न होगई थी। इसमें दो सौ से अधिक पृष्ठ हैं, जिनका दीवान से कोई संबंध नहीं है, बल्कि यह एक समालोचनात्मक निबंध है, जो बहुत ही योग्यता के साथ लिखा गया है। इसमें यूनानी, रूमी, अंग्रेज़ी और अरबी समालोचकों के विचारों का वर्णन है, यद्यपि बहुत ही संक्षिप्त और अव्यवस्थित रूप से उनका उल्लेख है। यूरोप की कविता में उनकी गति न थी। संस्कृत की कविता को न जानने के कारण उन्होंने उसे बिल्कुल छोड़ दिया है। लेकिन फिर भी यह पुस्तक अनेक ज्ञातव्य बातों का भंडार है और इसलिए कि समालोचना के विषय पर यह पहली पुस्तक है, बहुत ही आदरणीय है। सबसे बड़ी बात यह है कि यह एक ऐसे व्यक्ति की लिखी हुई है, जो पाश्चात्य शिक्षा से नितांत अनभिज्ञ था। इसके पढ़ने से पुराने ढंग के कवियों के सामने नवीन विचारों के द्वार खुल गए हैं। दुख के साथ कहना पड़ता है कि इसके अनुकरण में बहुधा दीवानों के साथ बड़ी-बड़ी प्रस्तावनाएं लिखी जाती हैं, जिनका स्रोत यही पुस्तक होती है, पर उनमें कोई नई बात नहीं होती। 'यादगार-ग़ालिब' मौलाना की सबसे लोकप्रिय रचना है। इसमें मिर्ज़ा ग़ालिब का जीवनचरित, उनके समय की घटनाएँ तथा उनके चुटकुले इत्यादि बड़े रोचक ढंग से दिए गए हैं। इसके पश्चात् उनकी रचनाओं का आलोचनात्मक सिंहावलोकन किया गया है। लेखक मिर्ज़ा के शिष्य थे इसलिए उसमें अनेक प्रत्यक्षदर्शी घटनाओं का भी उल्लेख है। मिर्ज़ा के क्लिष्ट पद्यों का अर्थ भी स्पष्ट किया गया है और यह बतलाया गया है कि किन किन अवसरों पर उनकी रचना हुई थी। इसके

लिखने से हाली ने अपने उस्ताद का ऋण उसी तरह चुका दिया, जैसा आज़ाद ने ज़ौक़ के दीवान को प्रकाशित करके उनको अमर कर दिया। यों तो आलोचना की पुस्तकों में इसका स्थान ऊँचा है, लेकिन फिर भी अगाध भक्ति-भाव के कारण कहीं-कहीं न्याय की अवहेलना हुई है। 'हयाते-जावेद' यह हाली की सबसे महत्त्वपूर्ण पुस्तक है, जिससे वह स्वयं अमर हो गए। इसमें सर सैयद का जीवन वृत्तांत इतना विस्तार के साथ वर्णन किया गया है कि इसको उर्दू में वही स्थान प्राप्त हो गया है, जो अंग्रेज़ी में बासवेल की प्रसिद्ध पुस्तक 'डाक्टर जानसन की जीवनी' को है। इसमें सर सैयद एक नेता, राजनीतिज्ञ, सुधारक और लेखक के रूप में दिखलाए गए हैं तथा उनके साथ उनके सहयोगी मित्रों का भी वर्णन है, लेकिन अपने नायक की प्रशंसा में लेखक ने बहुत अत्युक्ति से काम लिया है। इस विषय में मौलाना शिबली का कहना बिल्कुल ठीक है कि इस पुस्तक में चित्र का केवल एक ही पहलू दिखलाया गया है। सर सैयद की त्रुटियों को या तो छिपा दिया गया है अथवा उनका कुछ कारण लिख दिया गया है। लेकिन हमारी राय में इस समय की रचना की इतनी गहरी जाँच नहीं होनी चाहिए, इसलिए कि चरित लेखन और आलोचना हमारे यहाँ अभी प्रारंभिक दशा में है, अतः अधिक ऊहापोह से लाभ के स्थान में हानि ही की संभावना है। 'मजामीन हाली' में उन लेखों का संग्रह है जो उन्होंने पत्र-पत्रिकाओं में विशेषतया 'तहज़ीबुल इख़लाक़' में छपवाये थे। इनके सिवा नवाब मुस्तफ़ा खां 'शेफ़्ता' के पत्रों को भी संकलित करके उन्होंने छपवाया है।

लेखन-शैली

हाली की लेखन-शैली बहुत साफ़, और ज़ोरदार है, लेकिन उसमें आज़ाद की तरह चपलता और रंगीनी, नज़ीर अहमद के समान सूक्ष्म और ललित विनोद नहीं है। हाली ने यद्यपि किसी नवीन शैली का आविष्कार नहीं किया, फिर भी वह एक उच्चकोटि के गद्य-लेखक थे। उन्होंने विषय के व्यक्त करने का वर्णन शैली से अधिक ध्यान रक्खा है। अलंकारों का उनके यहाँ न बाहुल्य है और न उनका अनुचित उपयोग किया है। शब्दाडंबर में वह कभी नहीं उलझे, इसलिए उनके लेख बहुत सुलझे हुए और सुथरे हैं। यद्यपि उनमें बहुत ऊँची उड़ान न थी, लेकिन ओज और परिमार्जन से उनके लेख ओत-प्रोत हैं। सच तो यह है कि उर्दू गद्य के वह

बहुत बड़े स्तंभ थे और उन्होंने ग़ालिब और सर सैयद को अमर कर दिया।

शमसुलउल्मा खान बहादुर मौलाना नज़ीर अहमद १८३१ ई० में रेटर ज़िला बिजनौर में पैदा हुए। उनका वंश विद्या के लिए प्रसिद्ध था। पिता का नाम मौलवी सआदत अली था और उन्हीं से नज़ीर अहमद ने प्रारंभिक शिक्षा ग्रहण की। उसके बाद मौलवी नसरउल्ला डिप्टी कलेक्टर बिजनौर से कुछ पढ़ते रहे। फिर दिल्ली में आकर १८४५ ई० में मौलवी अब्दुल खालिक़ के शिष्य हुए, और उन्हीं की पोती से विवाह किया। दिल्ली कालेज के प्रोफ़ेसर मौलवी ममलूक अली के आग्रह से वह उस कालेज में भरती हुए और वहाँ अरबी साहित्य, दर्शन और गणित शास्त्र की शिक्षा समाप्त की। कालेज के प्रिंसिपल मिस्टर टाइलर की प्रेरणा से अँग्रेज़ी आरंभ की, लेकिन पिता के विरोध से छोड़नी पड़ी। उनके सहपाठी मुंशी करीमुद्दीन, मौलवी ज़ुकाउल्ला और मुंशी प्यारे लाल 'आशोब' थे। पहले नजीर अहमद पंजाब में कहीं पचीस रुपये मासिक पर टीचर हुए थे। थोड़े दिनों के बाद एक सौ रुपये महीने पर स्कूलों के डिप्टी इन्सपेक्टर हो गए। १८५७ ई० के ग़दर में उन्होंने किसी मेम की जान बचाई थी, जिसके उपलक्ष्य में उनको एक पदक और कुछ रुपया इनाम मिला था और स्कूलों के इन्सपेक्टर हो गए थे। इसके बाद उनकी बदली इलाहाबाद को हो गई, जहाँ उन्होंने कुछ अँग्रेज़ी सीख ली। फिर छः महीने में परिश्रम करके उन्होंने अँग्रेज़ी में ख़ासा अभ्यास पैदा कर लिया, यहाँ तक कि १८६१ ई० में इंडियन पेनल कोड के अनुवाद में अन्य लोगों के साथ वह भी सम्मिलित हुए। उनका उर्दू अनुवाद जिसका नाम 'ताज़ीरात हिन्द' है, बहुत पसंद किया गया। इसके बाद वह तहसीलदार और हाकिम बन्दोबस्त हो गए। उन्होंने ज्योतिष की एक पुस्तक का अनुवाद किया, जिसको काश्मीर के रेज़ीडेंट ने लिखा था। इस पर उनको एक हज़ार रुपया पुरस्कार मिला। उनकी योग्यता को सुनकर सर सालार जंग प्रथम ने उन्हें हैदराबाद बुला लिया और वहाँ वह आठ सौ रुपया महीने पर अफ़सर बन्दोबस्त हो गए। उन्हीं दिनों में उन्होंने कुरान को कंठस्थ किया। हैदराबाद में धीरे-धीरे उन्नति करके वह सत्रह सौ रुपया महीने पर मेम्बर माल हो गए और उनके लड़के और नातेदारों को वहाँ अच्छी-अच्छी जगहें मिलीं। सर

मौलाना नज़ीरअहमद (१८३१–१९१२)

सालार जंग ने उनसे एक पाठ्य क्रम भी तैयार कराया था। उनके लड़के साहबज़ादा नवाब लायक़ अली खां इनके शार्गिद थे। इस प्रकार से बहुत दिनों तक मौलाना नज़ीर अहमद ने वहाँ नौकरी करके अवकाश ले लिया और शेष जीवन दिल्ली में पुस्तकों के लिखने-पढ़ने में समाप्त किया। १६१२ ई० में वहीं उनका देहांत हुआ। वह सर सैयद अहमद खां के घनिष्ठ मित्रों में से थे।

रचनाएँ मौलाना ने निम्न लिखित पुस्तकें लिखी हैं:—

कहानियाँ और उपन्यास—मिरातुल उरूस, बिनातुल नाश, तोबतुल नसूह, इब्नुल वक्त, मुहसिनात्, अयामी, रोयाय सादिक़ा, और मुंतखबुल हिकायात। **धार्मिक और नैतिक**—कुरान का अनुवाद, अदयतुल कुरान, दहसूरा, अल हुकूक वल फ़रायज़, मतालिब कुरान, उम्महातुल उम्मा, और इज्तहाद। **स्फुट पुस्तकें**—सरफ़ सग़ीर रस्मुल खत, मोअज़ा हसना, अफसाना ग़दर, नसाबे खुसरो, चंद पंद, मुवाइज़ुल हिकमत, मायग़नीक फ़िलसरफ़, मजमूआ लेकचर और अँग्रेज़ी कानूनी पुस्तकों के अनुवाद जैसे 'ताज़ीरात हिन्द' और 'क़ानून शहादत' इत्यादि।

मौलाना धारावाही लेखक थे। उन्होंने 'मुवादिउल हिकमत, मुंतखबुल हिकायात' और 'रस्मुलखत' इत्यादि स्कूलों के विद्यार्थियों के लिए लिखीं थीं, जो उनके लिए बहुत ही उपयोगी हैं। सरकारी कानूनों के अनुवाद उनकी पुस्तकों में बड़े महत्वपूर्ण हैं। इसके लिए पहले दो सज्जन नियत हुए थे, जिनके नाम ऊपर आ चुके हैं। फिर सर विलियम म्योर तत्कालीन संयुक्त प्रांत के लेफ्टिनेंट गवर्नर की आज्ञा से मौलाना उसके संशोधन के लिए नियत हुये और उन्होंने बड़ी मिहनत से उसको समाप्त किया। ऐसी पुस्तकों के उनके अनुवाद बहुत ही शुद्ध हैं। कहीं-कही क्लिष्ट अँग्रेज़ी पारिभाषिक शब्दों के लिए उर्दू में शब्दों का निर्माण किया गया है, जो अब प्रचलित हो गए हैं। गवाही के कानून का अनुवाद लेपरोन की पुस्तक से किया गया है। 'अफ़साना ग़दर' एडवर्ड साहब की एक पुस्तक का भाषांतर है जिसमें १८५७ ई० के ग़दर की कुछ रोचक घटनाओं का उल्लेख है। इनके अतिरिक्त जब वह हैदराबाद में थे तो वहाँ के कर्मचारियों के लिए अनेक छोटी-छोटी पुस्तकें नियम-उपनियम के रूप में लिखी थीं।

उस समय मुसलमानों और ईसाई पादरियों से, जो मुसलमानी मत छोड़ कर ईसाई हो गए थे, बहुधा वाद-विवाद और खंडन-मंडन हुआ करता था

और सर सैयद, मौलवी चिराग़ अली और नवाब मुहसनुल्ला मुल्क इत्यादि उसमें भाग लेते थे। उन्हीं में से एक ईसाई पादरी अहमद शाह ने एक पुस्तक 'उम्मा-हातुल मोमनीन' के नाम से लिखी, जिसमें मुहम्मद साहब की बीबियों पर अनुचित आक्षेप किए थे। मौलाना नज़ीर अहमद ने उसका उत्तर 'उम्महातुल उम्मा' के नाम से लिखा, जिसका कुछ लोगों ने तो बहुत आदर किया, लेकिन जिसे कुछ मौलवियों ने बहुत निकृष्ट समझा और उसके विषय में इतना विरोध बढ़ा कि अंत में उसकी कुल प्रतियाँ जला दी गईं। अब यह ग्रंथ फिर संशोधन करके छाप दिया गया है।

मौलाना का सब से महत्वपूर्ण अनुवाद .कुरान का है, जो बहुत ही सरल और मुहावरेदार है। इससे उन लोगों को बहुत लाभ पहुँचा, जो मूल को बिना अर्थ समझे रट लिया करते थे। इससे पहले जितने अनुवाद थे, एक तो उनकी भाषा पुरानी थी, दूसरे कुछ शब्द अप्रचलित हो गये थे और अनुवाद भी मूल शब्दों के नीचे-नीचे था, इसलिए लोक-प्रिय न हुआ। अतः मौलाना ने चार आलिमों की सहायता से अपना अनुवाद तीन वर्ष में समाप्त किया। लेकिन उसमें इतनी त्रुटि अवश्य है कि उसको अनुवाद नहीं कहा जा सकता। मूल शब्द का आशय उर्दू शब्दों और मुहावरों के घोल-मेल से तथा व्याख्या और उदाहरण के कारण अनुवाद, अनुवाद नहीं रहा, बल्कि एक तरह से भाष्य हो गया है। अंत में उन्होंने 'अदमतुल कु.रान', 'दहसूरा' और 'अलहुकूक़ वलफ़रायज़' नामक पुस्तकें लिखीं, जिनमें पिछली पुस्तक सर्वांग संपूर्ण है। उनकी अंतिम पुस्तक जो अपूर्ण रह गई, 'मतालिबुल कु.रान' है, पर वह अब छप गई है। शम्सी प्रेस के नाम से उनका एक छापाख़ाना भी था, जिसमें उनकी पुस्तकें छपा करती थीं।

इस प्रसंग में उनकी पहली पुस्तक 'मिरातुल उरूस' है। इसमें एक प्रतिष्ठित मुसलमान के परिवार के निजी जीवन की कहानी है। यह उस समय लिखी गई थी जब वह डिप्टी कलेक्टर थे। इसके कथानक का सार यह है कि एक मूर्खा लड़की एक कुलीन घराने की शिक्षा से क्योंकर सुधर गई। इसको मुसलमानों और हिंदुओं दोनों ने पसंद किया। इसकी भाषा बहुत ही सरल और मुहावरेदार है। आश्चर्य तो यह

नैतिक उपन्यास

है कि वह स्त्रियों की विशेष भाषा और शुद्ध मुहावरे के लिखने पर क्योंकर समर्थ हुए। यह पुस्तक अत्यंत लोक-प्रिय हुई। इसकी एक हज़ार प्रतियाँ गवर्नमेंट ने ख़रीदीं और मौलाना को एक हज़ार रुपया इनाम दिया। इसके अनुवाद अनेक देशी भाषाओं में हो गए हैं।

दूसरी पुस्तक 'बिनातुन्नाश' है, जो 'मिरातुल उरूस' के बाद उसी ढंग पर स्त्रियों की शिक्षा के लिए लिखी गई है। इसमें भी बहुत सी रोचक बातें सामान्य जानकारी के लिए और प्राथमिक भौतिक विज्ञान के संबंध में बातचीत के रूप में लिखी गई हैं। इसका भी जनता और सरकार ने बहुत आदर किया।

इसके बाद 'तोबहुल नसूह' नामक पुस्तक लिखी गई, जो मौलाना का सब से श्रेष्ठ उपन्यास है। इसमें उन्होंने यह कहानी लिखी है कि एक दुष्ट आदमी जिसका नाम 'नसूह' है—हैज़े में सख्त बीमार होकर एक स्वप्न देखता है, जिसके बाद जगकर ईश्वरीय भय से काँप जाता है और धर्मभीरु बनकर तमाम निषिद्ध कर्मों से पश्चात्ताप कर लेता है। उसकी स्त्री और कुछ नातेदार भी उसी के विचार के हो जाते हैं, परंतु उसका बड़ा लड़का उसकी राह पर नहीं आता और अनेक प्रकार के शंका में फँस जाता है। इस पर लेखक ने औलाद की बुरी उठान और बचपन में उनकी देख-रेख के महत्व को बड़ी योग्यता के साथ प्रदर्शित किया है।

'इब्नुल वक़्त' में एक हिंदुस्तानी आदमी की कहानी है, जो ग़दर के समय में सरकार की सेवाओं के कारण एक बड़े पद पर पहुँच जाता है और अँग्रेज़ों के साथ मेल-जोल के कारण उन्हीं के रहन-सहन को ग्रहण कर लेता है और अपने हिंदुस्तानी मित्रों और नातेदारों से घृणा करने लगता है। फिर जब उनके अँग्रेज़ मित्र चले जाते हैं, तब वह किसी ओर का नहीं रहता और अपने संबंधियों में मिलने के लिए उद्योग करता है। इस पुस्तक के विषय में कुछ लोगों का यह विचार है कि इसमें मौलाना ने स्वयं अपना वृत्तांत कहानी के रूप में लेखबद्ध किया है। 'अयामी' नामक पुस्तक में उन्होंने विधवा-विवाह पर अधिक ज़ोर दिया है और हिंदुस्तान में विधवाओं की दयनीय दशा का वर्णन करके मुसलिम धर्मशास्त्र के अनुसार उनके पुनर्विवाह को सिद्ध किया है। 'मुहसिनात' में बहुविवाह की हानियों को दिखलाया है। 'रोयायसादिक़ा' में मुसलमानों के

कुछ धार्मिक विश्वासों की विवेचना एक रोचक प्रश्नोत्तर के रूप में की गई है।

नौकरी से अवकाश लेकर मौलाना ने व्याख्यान देना आरंभ किया। उनका पहला भाषण १८८८ ई० में हुआ था। वह अंजुमन हिमायत इस्लाम लाहौर, मदरसा तिब्बिया देहली और महमडन इजूकेशनल कानफ्रेंस के वार्षिक उत्सवों पर बराबर व्याख्यान दिया करते थे। सर सैयद के प्रभाव से वह प्रत्येक इसलामी जलसों में सम्मिलित होकर अपने सारगर्भित भाषण से श्रोताओं को प्रसन्न करते थे। वह बड़े सुवक्ता और मृदुभाषी थे और अपनी विशाल जानकारी, रोचक दृष्टांतों और विशेषतया अपने विनोदात्मक वर्णन से लोगों को गद्‌गद कर देते थे। उनके व्याख्यानों का संग्रह छप चुका है, जो अनेक विषयों पर है। उनमें धार्मिक सिद्धांतों, शिक्षा और स्त्रियों की स्वतंत्रता आदि की विवेचना है।

मौलाना के व्याख्यान

वह अपने जीवन के अंतकाल में कुछ-कुछ कविता भी करने लगे थे। जिसका उपयोग अपने लेक्चरों को रोचक बनाने के लिए करते थे। उनके पद्य में विशेष कवित्व नहीं है। उनकी कविता छप गई है, जिसका नाम 'मजमूआ बेनज़ीर' है, लेकिन उससे उनकी प्रतिष्ठा की वृद्धि नहीं होती।

कवि के रूप में

मौलाना बहुत सीधे-सादे और हँसमुख आदमी थे। बहुत सादगी से और कुछ कष्ट सहकर जीवन व्यतीत करते थे, इसलिए कृपण प्रसिद्ध थे, फिर भी कुछ मुसलमान दीन विद्यार्थियों की बड़ी उदारता के साथ सहायता करते थे। अंत में धनोपर्जन की लालसा से व्यापार करने लगे और उसमें बहुत कुछ पैदा किया। शिक्षा के वह इतने प्रेमी थे कि जीवन पर्यन्त उसी में लगे रहे। अलीगढ़ कालेज के वह पुराने संरक्षक और सहायक थे। १८९७ ई० में उनको शम्सुलउलमा और १९०८ ई० में एल० एल० डी० और १९१० ई० में पंजाब यूनीवर्सिटी से डी० ओ० एल० की उपाधियाँ मिलीं।

मौलाना का व्यक्तित्व

मौलाना का लेख बहुत सरल और स्पष्ट होता था, लेकिन कभी-कभी बड़े-बड़े अरबी और फ़ारसी के अप्रचलित शब्द भी डाल देते थे, तथा कहीं-कहीं अलंकारों से भी काम लेते थे, और अँग्रेज़ी शब्दों का समावेश कर देते थे,

जिससे उनके लेख में सुसंगठन और चारुता के स्थान में भोंडापन पैदा हो जाता था। उनके लेखों में आज़ाद के समान लालित्य और माधुर्य नहीं है। अलबत्ता उनके गद्य की जो विशेषता है वह उनका विनोद है जो उनके उपन्यासों और व्याख्यानों में सभी जगह पाया जाता है, उनका विनोद बहुत सूक्ष्म और ललित होता था और उसमें फक्कड़-पन तनिक भी नहीं है।

लेखन-शैली

शम्सुलउल्मा मौलवी ज़काउल्ला पुराने दिल्ली कालेज के प्रसिद्ध शिष्यों में थे। १८३२ ई० में दिल्ली में पैदा हुए। पिता का नाम हाफ़िज़ सना-उल्ला था, जो मिर्ज़ा कोचक सुलतान (बहादुरशाह के कनिष्ठ पुत्र) के शिक्षक थे। मौलवी ज़काउल्ला बारह वर्ष की आयु में दिल्ली कालेज में भरती हुए, जहाँ मौलवी नज़ीर अहमद और मुहम्मद हुसैन आज़ाद भी पढ़ते थे। अतः इन तीनों में बहुत घनिष्ट संबंध था और संयोगवश तीनों को 'शम्सुलउल्मा' की उपाधि मिली। जब ज़काउल्ला कालेज से पढ़कर निकले तो पहले उसी में गणित के शिक्षक हो गए, फिर वह आगरा कालेज में फ़ारसी, उर्दू के प्रोफ़ेसर हुए। १८५५ ई० में बुलंदशहर और मुरादाबाद के स्कूलों के डिप्टी इन्सपेक्टर हुए। १८६९ ई० में दिल्ली के नार्मल स्कूल के हेडमास्टर हो गए। फिर १८७२ में वह ओरियंटल कालेज लाहौर की प्रोफ़ेसरी के लिए निर्वाचित हुए थे, लेकिन वहाँ जाने के पहले वह म्योर सेंट्रल कालेज इलाहाबाद के अरबी, फ़ारसी के अध्यापक नियत हो गए। यहाँ उन्होंने २६ वर्ष काम करके विश्राम ले लिया और १९१० ई० में इस संसार से चल बसे।

मौलवी ज़काउल्ला

मौलवी ज़काउल्ला ने गणित, भूगोल, साहित्य और विज्ञान इत्यादि पर कुल डेढ़-सौ के लगभग पुस्तकें लिखी होंगी, जो अधिकांश विद्यार्थियों के लिए लिखी गई थीं और इसलिए उनमें रंगीनी और तड़क-भड़क नहीं है। वह अधिकतर गणितज्ञ, अनुवादक और इतिहासकार के रूप में प्रसिद्ध हैं। लेकिन गणित के विशेष ज्ञाता न थे। उनका उद्योग केवल अंग्रेज़ी पुस्तकों से अनुवाद करना और उनका भाष्य लिखना था। अलबत्ता इतिहास लिखने में एक बड़ा काम यह किया कि

रचनाएँ

हिन्दुस्तान का इतिहास दस जिल्दों में समाप्त किया, लेकिन उसमें अनुसंधान से बहुत कम काम लिया गया है, अतः वह साधारण लोगों के लिए है। उनकी एक और पुस्तक महारानी विक्टोरिया के समय की आईन-क़ैसरी के नाम से तीन जिल्दों में है, जिसमें उनके समय में यहाँ के शासन-प्रबंध में परिवर्तनों की चर्चा है। 'फ़रहंग फ़िरंग' में महारानी विक्टोरिया और उनके पति का जीवन वृत्तांत है। एक जीवनी मौलवी समीउल्ला ख़ां की भी उन्होंने लिखी है। अंत में वह मुसलमानों का एक इतिहास लिख रहे थे जो पूरा न हो सका। विविध सामयिक पत्रों जैसे 'तहज़ीबुल इख़लाक़' इत्यादि में वह लेख भी लिखा करते थे। विविध विषयों पर उनके लिखने पर मौलाना हाली ने एक बार यह चुटकुला कहा था कि मौलवी ज़काउल्ला का मस्तिष्क एक बनिए की दुकान है, जिसमें हर प्रकार की जिन्स तैयार रहती है।

सरकार ने उनकी शिक्षा-संबंधी सेवाओं के लिए एक ख़लत, पंद्रह सौ रुपया इनाम, ख़ान बहादुर और शम्सुल उल्मा की उपाधियाँ दी थीं। मौलवी ज़काउल्ला सर सैयद अहमद ख़ां के घनिष्ट मित्रों में थे और उनके शिक्षा-संबंधी कामों में सहयोग देते थे।

मौलवी सैयद अहमद देहलवी अपने प्रसिद्ध उर्दू कोश के रचयिता होने के कारण उर्दू-भाषी जनता में विशेष प्रसिद्धि रखते हैं। १८४६ ई० में दिल्ली में पैदा हुए। पिता का नाम हाफ़िज़ अब्दुल रहमान था, जिनका संबंध कुलीन सैयदों के एक बड़े घराने से था। मौलवी साहब की शिक्षा उस समय के रिवाज के अनुसार पहले देसी मकतबों में हुई। फिर सरकारी स्कूल और नार्मल स्कूल में शिक्षा प्राप्त की। इसके बाद अपनी स्वाभाविक प्रतिभा और विद्वानों के सत्संग से बहुत लाभ उठाया। बचपन ही से लिखने-पढ़ने की अभिलाषा थी। जब वह विद्यार्थी थे तो एक छोटी सी कविता फ़ारसी में 'तिफ़ली नामा' और एक पुस्तक पत्र-व्यवहार की 'तक़वीयतुल सुब्यां' के नाम से लिखी थी। १८६६ ई० में उन्होंने एक पुस्तक 'कंजुल फ़वायद' के नाम से लिखी, जिस पर सरकार से दो-सौ रुपया इनाम मिला। १८६८ ई० में उन्होंने अपने उर्दू कोश 'फ़रहंग आसफ़िया' के लिए सामग्री इकट्ठा करना आरंभ किया। १८७१ ई०

मौलवी सैयद अहमद

में उनकी एक और पुस्तक 'वक़ाया दूरनिया' के नाम से प्रकाशित हुई, जिस पर उनको डेढ़ हज़ार रुपया इनाम मिला। इस बीच में बिहार के स्कूलों के इंसपेक्टर डाक्टर फ़ैलन ने अपनी उर्दू-अँग्रेज़ी कोश की तैयारी में सहायता के लिए उन्हें बुला भेजा। वहाँ उन्होंने सात वर्ष तक काम किया और साथ ही अपने कोश का भी काम करते रहे। १८८० ई० में उन्होंने महाराजा अलवर की यात्रा का वृत्तांत लिखा। इसके बाद वह पंजाब गवर्नमेंट बुकडिपो में सहायक अनुवादक हो गए। फ़ैलन साहब के कोश की तैयारी के समय में उन्होंने एक पुस्तक 'हादिउन्निसा' के नाम से लिखी, जो बहुत लोकप्रिय हुई। उनकी अन्य पुस्तकें यह हैं—

(१) तकमीलुल कलाम—व्यवसायियों की परिभाषा के संबंध में।

(२) 'तहक़ीकुल कलाम'—उर्दू भाषा की बारीकियों के संबंध में।

(३) 'रसखान'—इसमें कुछ हिन्दी दोहे, पहेलियाँ और गीतें हैं।

(४) 'ऋतु बखान'—हिन्दुओं के रस्मोरिवाज पर।

(५) 'नारी कथा'—हिन्दू स्त्रियों की बोली पर।

(६) 'कवायद उर्दू' उर्दू का व्याकरण।

(७-८) 'लुग़ातुन्निसा' और 'तहरीरुन्निसा'—लड़कियों की रीडरें।

(९) 'बी राहत जमानी का क़िस्सा'—इसमें स्त्रियों को समय का मूल्य बतलाया गया है।

(१०) 'इख़लाकुल निसा'—बच्चों के पालन पोषण के विषय में।

(११) 'इल्मुलनिसा'—भाषा और उसकी उन्नति के संबंध में।

(१२) 'रसूमे देहली'—जिनमें देहली के प्रचलित रीति-रिवाजों का वर्णन है। इसके अतिरिक्त 'सैर-शिमला', उर्दू ज़र्बुल 'अमसाल' (कहावतें) 'रोज़मर्रा देहली' (बोलचाल) 'रसूम आला हिंदुआन देहली' आदि प्रकाशित पुस्तकें थीं जिनमें से कुछ अब प्रकाशित हो गई हैं।

इस विशाल कोष के प्रकाशनार्थ धनाभाव से मौलवी साहब को जिन-जिन कठिनाइयों का सामना करना पड़ा वह उन्होंने उसकी भूमिका में विस्तार-पूर्वक लिखी हैं। सौभाग्यवश १८८८ ई० में जब वह शिमला के किसी स्कूल में नौकर थे, हैदराबाद के प्रधान

फ़रहंग आसफ़िया

मंत्री सर आसमाँ जाह वहाँ पधारे। मौलवी साहब ने अपनी पांडुलिपि उनको दिखलाई, जो सैयद अली बिलग्रामी के निरीक्षण के पश्चात् स्वीकृत हो गई। जब १८९२ ई० में पुस्तक छप गई तो उसका नाम 'फ़रहंग आसफ़िया' रक्खा गया और उनको पाँच हज़ार रुपया इनाम तथा पचास रुपया पेंशन मिली। वस्तुतः यह उर्दू भाषा का एक महत्वपूर्ण कोष है जो बड़ी जाँच-पड़ताल और परिश्रम से लिखा गया है।

शिबली नोमानी (१८५७–१९१४)

मौलाना शिबली नोमानी अपने समय के बड़े प्रसिद्ध विद्वानों में थे। विविध विषयों में वह निपुण थे। यदि कोई आदमी एक कवि, दार्शनिक, इतिहासकार, समालोचक, शिक्षानीतिज्ञ, अध्यापक, धर्मप्रचारक पत्रकार, इसलामी धर्मशास्त्र और हदीस का ज्ञाता, सब कुछ हो सकता है, तो वह शिबली ही थे। लेकिन इन सब में साहित्य, इतिहास और अन्वेषण में उनका स्थान ऊँचा था। १८५७ ई० में आज़मगढ़ ज़िले के अंतर्गत बंदौल नामक गाव में पैदा हुए। उनके पिता का नाम शेख़ हबीबुल्ला था, जो वकील थे। आरंभ में उन्होंने मौलवी शुक्रुल्ला से शिक्षा पाई। जब कुछ अरबी, फ़ारसी का बोध हो गया, तो मौलना फ़ारूक चिरैया कोटी से पढ़ने लगे, जो उस समय ग़ाज़ीपुर में हेड मौलवी थे और दर्शनशास्त्र, गणित तथा साहित्य के उस्ताद माने जाते थे। फिर वह अधिक पढ़ने की इच्छा से रामपुर चले गए। वहाँ मौलवी अब्दुल हक़ खैराबादी और मौलवी इरशाद हुसैन से उन्होंने हदीस और धर्मशास्त्र पढ़ा। फिर लाहौर में मौलवी फ़ैज़ुल-हसन और सहारनपुर में मौलवी अहमद अली से शिक्षा ग्रहण की। १८७६ ई० में वह हज करने मक्के गये, जहाँ रास्ते में श्रद्धापूर्वक फ़ारसी में एक कसीदा लिखा। वहाँ से लौट कर आज़मगढ़ आए और पढ़ने-पढ़ाने का सिलसिला जारी किया। पुस्तकावलोकन की उनको इतनी लालसा थी कि पुस्तक की दुकानों पर बैठकर वह पुस्तकें पढ़ा करते थे। इस समय वहाबी संप्रदाय के खंडन में भी कुछ छोटी-छोटी पुस्तकें लिखी थीं, जिनमें 'इस्कातुल मोतदी' जो अरबी में है अधिक प्रसिद्ध है।

कहा जाता है कि उन्होंने परीक्षा पास करके आज़मगढ़ और बस्ती में कुछ दिनों तक वकालत भी की थी। फिर इस पेशे से ऊब कर सरकारी नौकरी

करके कहीं अमीन हो गए थे। बाद में उसको भी छोड़कर साहित्यिक सेवा में लग गए। १८८२ ई० में अपने छोटे भाई मेंहदी से मिले, जो अलीगढ़ कालेज में पढ़ते थे। वहां खानबहादुर महम्मद करीम डिप्टी कलेक्टर तथा मौलवी समाउल्ला के द्वारा सर सैयद अहमद खां से मिले और उनको फ़ारसी में एक निवेदन पत्र उक्त कालेज की प्रोफ़ेसरी के लिए दिया जो स्वीकृत हो गया।

अलीगढ़ में सर सैयद और मौलाना हाली इत्यादि के सत्संग तथा सर सैयद के पुस्तकालय से मौलाना शिबली ने बहुत लाभ उठाया। अलीगढ़ कालेज के प्रसिद्ध मुसलमानों के मित्र प्रोफ़ेसर आरनल्ड से मौलाना ने फ्रेंच सीखी और उनको अरबी पढ़ाई। जिस तरह मौलाना ने उनसे पाश्चात्य प्रणाली की आलोचना सीखी उसी तरह आरनल्ड साहब अपनी पुस्तक 'प्रीचिंग आव् इसलाम' की रचना में अनेक बातों के लिए मौलाना के ऋणी हैं।

संभवतः अलीगढ़ ही में मौलाना का यह विचार हुआ कि मुसलमानों के पुराने वैभव और पूर्वजों के महत्वपूर्ण कार्य लेखबद्ध किए जॉय। इस काम के लिए सर सैयद ने भी उनको प्रोत्साहन दिया। फिर क्या था, सर सैयद का पुस्तकागार तो वहाँ था ही जिसमें मिश्र और सीरिया तक की पुस्तकें मौजूद थीं। १८८४ ई० में मौलाना ने मसनवी 'सुबह-उम्मीद' लिखी, जिसमें इसलाम का ऐश्वर्य और वर्तमान मुसलमानों के पतन तथा उनके उभारने के लिए सर सैयद के उद्योग का वर्णन खूब ज़ोरदार शब्दों में किया। यह पुस्तक मुसलमानों में इतनी सर्वप्रिय हुई कि वह कभी-कभी उसको स्टेज पर खड़े होकर कालेज के विद्यार्थियों को स्वर के साथ सुनाकर उनको विचलित कर देते थे। १८८६ ई० के महमडन-एजूकेशन कान्फ्रेंस में 'मुसलमानों का गुज़श्ता तालीम' नामक निबंध पढ़कर सुनाया, जिससे लोगों को मौलाना की ऐतिहासिक जानकारी और विशाल विद्वत्ता का पता लगा। अब लेखक के रूप में उनकी ख्याति बढ़ी। उनका यह विचार हुआ कि इसलामी नगरों और अब्बासी खलीफ़ों का एक इतिहास अंग्रेज़ी के 'हीरोज़ आव् इसलाम' के ढंग पर लिखा जाय। इस पुस्तकमाला में उन्होंने पहले 'अलमामूं' और 'सीरतुल नोमान' लिखीं। तीसरी पुस्तक 'अल फ़ारूक़' लिखने वाले थे कि १८९२ ई० में प्रोफ़ेसर आरनल्ड के साथ उन्होंने क़ुस्तुन्तुनिया,

आरंभिक रचनाएँ

लघु एशिया, सीरिया और मिश्र इत्यादि की यात्रा करके वहाँ के बड़े-बड़े नगरों को देखा, जिसका मुख्य उद्देश्य यह था कि उन नगरों की तड़क भड़क प्रत्यक्ष देखी जाय, तथा 'अल फ़ारूक़' के लिए शुद्ध और प्रामाणिक सामग्री का पता लगाया जाय। वहाँ से लौटकर उन्होंने अपनी यात्रा का विवरण प्रकाशित किया।

१८९८ ई० में जब सर सैयद का देहांत हो गया तब मौलाना भी अलीगढ़ से चले आए और 'अलफ़ारूक़' की तैयारी में लग गए तथा एक इसलामी अंग्रेज़ी स्कूल की उन्नति में उद्योग करने लगे, जो १८८३ ई० में खुल चुका था। १८९९ ई० में काश्मीर की यात्रा की।

मौलाना नवाब विक़ारुल उमरा के समय में हैदराबाद गए जहाँ वह पहले सर सैयद अली बिलग्रामी के उद्योग से २००) मासिक पर शिक्षा विभाग के अध्यक्ष नियत हुए। पीछे वेतन ३००) हो गया। वहाँ वह चार वर्ष रहे और शिक्षा विभाग की बहुत कुछ उन्नति की। वहाँ भी उनके पुस्तक लिखने का काम बराबर जारी रहा। 'अल ग़ज़ाली', 'सवानेह मौलाना रूम', 'अल कलाम', 'इल्मुल कलाम' और 'मवाज़ना अनीसो दबीर' ये सब पुस्तकें उसी समय की लिखी हुई हैं।

जब यह हैदराबाद ही में थे, तब मौलवी अज़ीज़ मिर्ज़ा के समय में उन्होंने एक 'मशरक़ी' (प्राच्य) यूनीवर्सिटी की योजना तैयार की थी।

निदवतुल उलमा

इस संस्था की स्थापना १८९४ ई० में हुई थी, जिसका उद्देश्य था कि अरबी मदरसों के लिए एक उपयोगी पाठ्यक्रम समय की आवश्यकता की दृष्टि से बनाया जाय और यह कि मुसलमानों के विविध संप्रदायों में जो विभेद है, वह दूर किया जाय। इस योजना के प्रस्तावक मौलवी अब्दुल ग़फ़ूर डिप्टी कलेक्टर थे, जिनका समर्थन मौलवी सैयद महम्मद अली कानपुरी और ख़लीफ़ा फ़ज़ल रहमान मुरादाबादी ने किया जो इसके पहले प्रबंधक थे। मौलाना शिबली और मौलवी अब्दुलहक़ देहलवी ('तफ़सीर हक्क़ानी' के रचयिता) ने इसके नियम-उपनियम बनाए, जिसको सर सैयद, नवाब मुहसिनुल मुल्क और विक़ारुलउमरा ने पसंद किया। कहा जाता है कि विक़ारुल मुल्क १००) महीना निदवा को अपने पास से देते थे। फिर मौलाना शिबली का यह प्रस्ताव हुआ कि निदवा के अंतर्गत एक मदरसा

खोला जाय जो समयानुसार विद्यार्थियों को शिक्षा दे सके। १८६८ ई० में उक्त मदरसे की कुछ आरंभिक कक्षाएँ खोली गईं। मदरसे का नाम 'दारुल उलूम' रक्खा गया। १८६६ ई० में शाहजहाँपुर के रईसों ने कुछ ज़मींदारी नदवा को दान दे दी, जिसकी आय सात सौ रुपया वार्षिक है। एक विशाल पुस्तकालय भी खोला गया है, जिसमें हज़ारों बहुमूल्य पुस्तकें हैं, जो कुछ हस्तलिखित और कुछ मिश्र आदि मुसलमानी देशों की छपी हुई हैं।

इसके बाद निदवा को एक बड़े संकट का सामना करना पड़ा। वह यह था कि सर ऐंटनी मेकडानल साहब को, जो उस समय इस प्रांत के लेफ़्टनेंट गवर्नर थे, यह संदेह हुआ कि यह संस्था राजनीतिक षड्यंत्र का केंद्र है। इसी बीच में मौलवी अहमद रज़ा ख़ाँ बरेलवी की कुछ लघु पुस्तकें बड़ी तीव्र भाषा में छपीं, जिससे निदवा के मुक़ाबले के लिए एक विरोधी दल खड़ा हो गया। जब उक्त लाट साहब विलायत चले गए तो मौलाना शिबली हैदराबाद से लखनऊ आए और निदवा के कुप्रबंध को संभालने के लिए अपने हाथ में लिया; और उसके विरुद्ध जनता और सरकार में जो संदेह उत्पन्न हो गया था, उसके दूर करने के लिए बहुत उद्योग किया, जिसमें कर्नल अब्दुलमजीद ख़ाँ ने भी उनकी बहुत सहायता की। निदवा की आर्थिक दशा इतनी बिगड़ गई थी कि उसके टूट जाने का भय था। अतः उसकी सहायता के लिए मौलाना ने कुछ मुसलमानी रियासतों में भ्रमण किया, जिसके फलस्वरूप उसके लिए रामपुर से ५००) और भूपाल से २५०) वार्षिक की सहायता नियत हुई। इसी प्रकार हिज़ हाईनेस आग़ा ख़ाँ ने ५००) वार्षिक देना स्वीकार किया और नवाब भावलपुर की दादी ने ५०,०००) भवन निर्माण के लिए दिया, जिसके लिए सरकार से एक भूमि गोमती के किनारे लखनऊ में मिली और अंग्रेज़ी तथा सांसारिक विद्याओं की शिक्षा के लिए ६०००) वार्षिक की सहायता स्वीकृत हुई और इस प्रांत के तत्कालीन लेफ़्टनेंट गवर्नर सर जान हीवेट ने दारुल उलूम (विद्यालय) की आधारशिला २८ नवम्बर १६०८ ई० को रक्खी। इस प्रकार मौलाना का उद्योग सफल हुआ, लेकिन आपस का मतभेद बना रहा, क्योंकि पुराने ढर्रे के मुल्लाओं का इसमें सहमत होना कठिन था। वे लोग मौलाना पर उनके उदार विचारों के कारण विश्वास नहीं करते थे। इससे मौलाना खिन्न होकर १६१३ ई०

में लखनऊ से आज़मगढ़ चले गए और 'दारुल मुसन्नफ़ीन' का सूत्रपात किया।

निदवा ने इसलामी जगत की जो सेवा की है वह सराहनीय है, लेकिन यह नहीं कहा जा सकता कि उसका उद्देश्य पूरा हो गया। उसने सबसे बड़ा यह काम किया है कि पुरानी परिपाटी के मुल्लाओं में जो समय की गति से लापरवाह थे, जागृति उत्पन्न कर दी और उनको भी यह अनुभव होने लगा कि पुराने पाठ्य क्रम को बदल कर समयानुसार बनाया जाय तथा अँग्रेज़ी भाषा की भी शिक्षा दी जाय। अनुपयोगी पुस्तकें और विद्याएँ निकाल दी जाँय और फ़ारसी-अरबी साहित्य तथा हदीस और तफ़सीर (.कुरान के भाष्य) की ओर अधिक ध्यान दिया जाय। निदवा ने यह भी बड़ा काम किया कि अरबी की विद्याओं और इसलामी संस्कृति को शुद्ध रूप में दुनिया के सामने उपस्थित किया जाय। बहु-मूल्य हस्तलिखित और हज़ारों छपी हुई उपयोगी पुस्तकों का संग्रह करके एक पुस्तकालय स्थापित किया गया। .कुरान के एक शुद्ध अँग्रेज़ी अनुवाद के काम में भी हाथ लगाया। हिंदुस्तान में मुसलमानों के शासन काल में, जो ऐतिहासिक भ्रम फैल गया था उसके दूर करने का उद्योग किया गया। इसी प्रकार मुसलमानों के वक्फ़ (रक्षणाधिकार) और दायभाग के संबंध में जो कभी-कभी कानूनी उलझन आ जाती थी, उस पर भी प्रकाश डाला गया। सारांश यह कि निदवा एक प्रकार से इसलामी विद्याओं और संस्कृति का एक केन्द्र है, जिसका प्रभाव सुदूर देशों तक पड़ा। इस संस्था की एक मासिक पत्रिका भी 'अल निदवा' के नाम से स्वयं मौलाना शिबली और मौलवी हबीबुर्रहमान के संपादकत्व में प्रकाशित की गई, जिसमें योग्यतापूर्ण लेख प्रकाशित किए गए। लेकिन सच्ची बात यह है कि मौलाना के परलोक गमन से जो इस संस्था को धक्का पहुँचा उसकी पूर्ति अब कठिन है।

लखनऊ से लौटने पर मौलाना अपनी प्रिय रचना 'सीरुतलनबी' (महम्मद साहब के जीवनचरित) की पूर्ति में लग गये और उसी समय 'शेरुल अजम' का पाँचवाँ भाग भी समाप्त किया। वह पुस्तक-रचना के बड़े प्रेमी थे, इसलिए बहुत दिनों से लेखक-संघ की स्थापना का विचार कर रहे थे, जो अब पूरा हुआ। उसके लिये उन्होंने अपना मकान और बाग़ तथा पुस्तकालय दान कर दिया। इसके अतिरिक्त निदवा में एक

दारुल मुसन्नफ़ीन

विशेष योग्यता का विभाग स्थापित किया, जिसमें विद्यार्थी अनुसंधान का काम करें।

मौलाना को १८६२ ई० में तुर्की के सुलतान ने 'मजीदिया' पदक दिया था और उसी के निकट ब्रिटिश सरकार से उनको 'शम्सुलमा' की उपाधि मिली थी। इलाहाबाद विश्वविद्यालय के फ़ेलो और अनेक कमेटियों के सभासद थे, जैसे प्राच्य विद्याओं की उन्नति की कमेटी, जो शिमला में में सर हारकोर्ट बटलर के सभापतित्व में स्थापित हुई थी तथा उर्दू हिंदी के झगड़े और हिंदू-मुसलिम की एकता की कमेटी, जिसको सरकार ने स्थापित किया था।

मौलाना का सम्मान

मौलाना बड़े सच्चे, सुशील और नम्र आदमी थे। उनमें एक विशेषता यह थी कि उनकी बातें बहुत मीठी, रोचक और विविध प्रकार की जानकारी से भरी हुई होती थी। उनकी स्मरणशक्ति बड़ी तीव्र थी। धन की तनिक भी परवाह नहीं करते थे। जो कुछ मिलता था बड़ी उदारता से व्यय कर देते थे। हिंदू-मुसलिम एकता को हृदय से चाहते थे।

मौलाना का व्यक्तित्व

मौलाना ने बहुत सी पुस्तकें लिखीं, जिनमें सीरतुल नबी (जिसमें केवल दो ही जिल्द लिख सके थे), शोरूल अजम (पांच भागों में), अलफ़ारूक़, अल-मामूं, सरितुन्नोमान, अलग़ज़ाली, अलकलाम, इल्मुल कलाम, सवानेह मौलाना रूम, मवाज़नाना अनीसो दबीर, सफ़रनामा रूम, मिश्र व शाम, औरंगज़ेब आलमगीर, अल जज़िया, मुसलमानों की गुज़श्ता तालीम, तारीख़ इसलाम व फ़लसफ़ा इसलाम, हयाते ख़ुसरो, तनक़ीद जुरज़ी ज़ैदान, मक़ालाते शिबली, मकातेब शिबली, रसायल शिबली (पद्य में) दीवान शिबली, दस्ता गुल, मसनवी सुबह उम्मीद और मजमूआ नज़्म उर्दू अधिक प्रसिद्ध हैं।

रचानाएँ

मौलाना की बड़ी कुशलता यह है कि उन्होंने इसलाम के पुराने ऐश्वर्य के इतिहास को ऐसे रोचक और नए ढंग से लिखा कि सभी उससे लाभ उठा सकते हैं। फिर यह कि उसकी रचना में बड़े अनुसंधान और खोज से काम लिया है और नए ढंग की समालोचना के नियमानुसार अप्रामाणिक और बेकार बातों को छोड़

इतिहासकार और समालोचक

दिया है। अलफ़ारूक़, अलमामूं, अल ग़ज़ाली, सीरतुन्नोमान, मुसलमानों की गुज़श्ता तालीम और विशेषतया 'सीरतुन्नबी' से उनकी विशाल विद्वत्ता, अनुसंधान, गंभीर अध्ययन और अथक परिश्रम का परिचय मिलता है।

मौलाना इतिहासकार होने के अतिरिक्त बहुत बड़े समालोचक भी थे। कवि होने के सिवा मौलाना की विवेक शक्ति, निर्णय और सुरुचि बहुत ऊँचे दर्जे की थी। पाँच विशाल खंडों में उनका 'शोरुल अजम' उनकी विद्वत्ता, विशाल अध्ययन और अन्वेषण का ज्वलंत प्रमाण है। यह सच है कि उन्होंने उसकी रचना में कहीं कहीं कुछ भूल-चूक भी की है तथा उसकी कुछ और त्रुटियों का पता लगा है। परंतु अपेक्षाकृत वे बहुत कम हैं और इससे उनके उच्चकोटि के समालोचक होने पर कोई धब्बा नहीं आता। प्रोफ़ेसर ब्राउन ने, (जिन्होंने ईरान का साहित्यिक इतिहास लिखा है) मौलाना की इस पुस्तक की प्रशंसा की है। इस पुस्तक-माला में ईरान के कवियों की रचना की विस्तीर्ण रूप से जाँच-पड़ताल करके सुंदर धारा-प्रवाह सरल उर्दू में आलोचना की गई है। 'मवाज़ना अनीस व दबीर' अर्थात् अनीस और दबीर के मरसियों की तुलना भी एक बहुमूल्य रचना है। यद्यपि इसके भी विरुद्ध कुछ पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं, फिर भी उसकी बहुधा बातें उपयोगी और शुद्ध हैं। निबंध और स्फुट लेखों के लिखने में भी मौलाना बड़े सिद्धहस्त थे। उनके इस प्रकार के लेख लोग बड़े चाव से पढ़ते हैं, क्योंकि उनमें बहुत सी उपयोगी बातो का समावेश है। उनके पत्र भी बड़े रोचक हैं, जिनमें निजी जीवन और उनके समकालीन लोगों का हाल तथा उस समय की बहुत सी बातों पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

मौलाना सदैव साफ़, सादा लिखना पसंद करते थे, जिससे विषय ख़ूब स्पष्ट हो जाय। उसमें एक विशेष आभा होती थी। सर सैयद अहमद ख़ाँ मौलाना को हमेशा उनकी शैली पर बधाई देते थे और कहते थे कि आपके लेखों पर दिल्ली और लखनऊ दोनों जगह के लेखक ईर्ष्या कर सकते हैं, मौलाना के लेखों में अलंकार और रूपक बहुत कम होता था, और यद्यपि वे कभी-कभी बहुत ही परिमार्जित होते थे, फिर भी विषय बहुत ही स्पष्ट होता था। कुछ लोगों को, जिनको आज़ाद की

लेखन-शैली

शैली का स्वाद मिल चुका है, संभव है मौलाना के लेख रूखे-फीके प्रतीत हों, लेकिन कारोबारी गद्य के वे अनुपम नमूने हैं, जो वर्तमान काल की बहुत बड़ी विशेषता है।

सैयद सुलैमान नदवी

मौलाना सैयद सुलैमान, मौलाना शिबली के स्थानापन्न हैं, जो प्राच्य विद्याओं अरबी फ़ारसी के धुरंधर विद्वान् हैं। मौलाना उनसे बहुत स्नेह रखते थे। मौलाना के जीवन काल ही में वह अपनी प्रतिभा और योग्यता के कारण उनके शिष्यों में सर्वश्रेष्ठ थे। उन्होंने मौलाना के कार्य और परंपरा को संचालित रक्खा। उन्हीं की देख-रेख और प्रबंध में 'दारुल मुसन्नफ़ीन' अरबी-फ़ारसी की दुर्लभ पुस्तकों का अनुवाद तथा मूल रचनाएँ प्रकाशित कर रहा है। वह 'अलमआरिफ़' के संपादक भी हैं जो उर्दू की उच्चकोटि की पत्रिका है और मुख्यतया इसलामी विद्याओं की प्रचारक है। उसके लेखों से उनकी लेखनकला, उच्च विद्वत्ता और विद्या संबंधी अन्वेषण का परिचय मिलता है। अब 'वह दारुल मुसन्नफ़ीन' और 'मआरिफ़' दोनों के प्राण हैं। उन्होंने इसलामी देशों और योरप की भी यात्रा की है। मौलाना शिबली की 'सीरतुन्नबी' का पाँचवाँ भाग उन्होंने पूरा किया है। इसके अतिरिक्त 'सीरत आयशा' 'अर्ज़ुल क़ुरान' और 'लुग़ात जदीदा' तथा 'उमरख़ैयाम' नामक उपयोगी पुस्तकों की रचना की है।

मौलाना सुलैमान के अतिरिक्त मौलाना हमीदुद्दीन, मौलाना अब्दुल-बारी, मौलाना अब्दुल माजिद दरियाबादी, प्रोफ़ेसर नवाब अली और मौलाना 'अब्दुलसलाम दारुल मुसन्नफ़ीन' के उत्साही और प्रतिष्ठित लेखकों में हैं। मौलाना हमीदुद्दीन अँग्रेज़ी के अतिरिक्त फ़ारसी-अरबी के विद्वान् और 'इल्मुल क़ुरान' तथा अरबी-साहित्य के विशेषज्ञ हैं। मौलवी अब्दुलबारी ने बर्कले के दर्शनशास्त्र का बहुत सरल उर्दू में अनुवाद किया है, और कुछ और भी इसी विषय की पुस्तकें लिखी हैं।

मौलाना के कार्य और परंपरा को संचालित रक्खा। उन्हीं
की देख-रेख और प्रबंध में 'दारुल मुसन्नफ़ीन' अरबी-फ़ारसी की दुर्लभ पुस्तकों

शुभचिंतकों को उससे सच्ची सहानुभूति हो; और इसी प्रकार यह भी न चाहिए कि समस्त पाश्चात्य और अन्य प्राच्य विद्याओं से मुँह मोड़ कर केवल इसलामी विद्याओं का प्रचार करे।

मौलवी अब्दुस्सलाम नदवी

मौलवी अब्दुस्सलाम के ऊपर नदवा जितना गर्व करे, कम है। वह कभी-कभी 'मआरिफ़' में बहुत ऊँचे दर्जे के लेख लिखते रहते हैं। 'शोरुल हिंद' इत्यादि उनकी रचनाएँ हैं। 'शोरुल हिंद' नामक पुस्तक में जो उर्दू पद्य का एक विस्तृत इतिहास है, उन प्रभावों का जो समय-समय पर उर्दू पद्य पर पड़ा, बहुत ही विशद रूप से वर्णन किया गया है। अपने ढंग की यह एक ही पुस्तक है। इसकी रचना द्वारा लेखक ने वस्तुतः उर्दू भाषा की बड़ी सेवा की है। फिर भी इसमें बहुत सी ज़रूरी बातें छोड़ दी गई हैं और बहुधा उन लोगों की चर्चा भी नहीं है, जिन्होंने उर्दू भाषा की उन्नति में उद्योग किया है। इस पर यह आक्षेप हो सकता है कि इस पुस्तक में उर्दू पद्य को एक विशेष दृष्टिकोण से देखा गया है। फिर भी पुस्तक उपयोगी है और मौलवी अब्दुलहई की 'गुलेराना' के मुक़ाबले में जो कि पुराने ढंग का तज़किरा है, इसमें कुछ बातें ऐसी हैं, जो दूसरी पुस्तकों में नहीं मिलतीं।

मौलवी अब्दुल-माजिद दरियाबादी

मौलवी अब्दुल माजिद, मौलवी अब्दुल क़ादिर डिप्टी कलेक्टर के लड़के हैं। १८९३ ई० में पैदा हुए। पहिले घर पर अरबी-फ़ारसी की शिक्षा समाप्त की। फिर सीतापुर हाई स्कूल से इंट्रेंस पास करके, कैनिंग कालेज लखनऊ से बी० ए० पास किया। इसके पश्चात् वह एम० ए० के लिए अलीगढ़ कालेज में गए, लेकिन पिता के मरने से वह वहाँ बहुत दिनों तक ठहर न सके और लखनऊ लौट आए। यहाँ उन्होने पुस्तक लिखने का काम आरंभ किया। १९२७ ई० में उसमानिया यूनीवर्सिटी के 'दारुल तर्जुमा' से उनका संबंध हो गया, लेकिन कुछ दिनों बाद इसे उन्होंने छोड़ दिया, यद्यपि अब भी निज़ाम सरकार से पेंशन पाते हैं और उक्त यूनीवर्सिटी के लिए साहित्यिक काम करते रहते हैं। राजनीतिक विषयों से उनको विशेष प्रेम है और उस संबंध में वह बड़े आदर के साथ देखे जाते हैं। आपने निम्नलिखित पुस्तकें लिखी हैं :—

(१) फ़लसफ़ा जज़्बात, (२) फ़लसफ़ा इज़्तमाश्र, (३) तारीख़ इख़लाक़ योरप, (४) मकालमात बर्कले, (५) पयाम अमन, (६) मुसहफ़ी की मसनवी 'बहरुल मुहब्बत' का संपादन, (७) ज़ूदेपशेमान नामक नाटक, (८) साइकालोजी आव् लीडरशिप (अंग्रेज़ी में), (९) तसौवफ़ व इसलाम, (१०) फ़लसफ़ियाना मज़ामीन, (अलनाज़िर नामक पत्रिका में छः निबंधों का संग्रह)।

आपने दर्शनशास्त्र का बहुत गहरा अध्ययन किया है और इस विषय की पुस्तकें और लेख बहुत सरल और रोचक उर्दू में लिखते हैं। आपके अनुवाद बहुत सुथरे और मुहावरेदार होते हैं। आपने मुसहफ़ी की मसनवी 'बहरुल मुहब्बत' को जो छपी न थी, एक सुंदर प्रस्तावना लिखकर छपवाया है। कभी-कभी आप दर्शन और तसौवफ़ जैसे गंभीर विषय से हटकर मनोरंजन के लिए हल्के साहित्य की ओर भी झुक जाते हैं। जैसे आपका ड्रामा, 'ज़ूदेपशेमान' जो स्टेज के योग्य तो नहीं है, पर पढ़ने में ललित और रोचक अवश्य है। आप एक प्रसिद्ध कवि भी हैं, लेकिन कम कविता करते हैं। जो कुछ लिखते हैं, वह सूफ़ियाना रंग का होता है, आपका एक पत्र भी 'सच' के नाम से निकलता है।

इसके अतिरिक्त मआरिफ़, अलनाज़िर, उर्दू, आदि सामयिक पत्र उनके बहुमूल्य लेखों के ऋणी हैं। उनके लेख पक्षपातहीनता, मौलिकता और विद्वत्ता से परिपूर्ण होते हैं, समालोचना की शक्ति आपकी बहुत ही प्रबल है। सुना जाता है कि इस समय आप मौलाना रूम की मसनवी का संपादन कर रहे हैं। सारांश यह कि आधुनिक उर्दू-साहित्य के आप भूषण हैं और आपका भविष्य बहुत ही उज्ज्वल है।

दिल्ली कालेज की स्थापना

दिल्ली कालेज की स्थापना से नवीन विद्याओं और कला के प्रचार में विशेष सहायता मिली। मिस्टर ऐंड्रूज के कथनानुसार 'उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ में जो विद्या का एक विचित्र प्रकाश चमका, उसने एक विलक्षण मायावी दृश्य हिन्दुस्तानियों के सामने उपस्थित कर दिया। कोई नहीं कह सकता था कि आगे चल कर क्या होगा। जो-जो रसायन और भौतिक विज्ञान के नए-नए प्रयोग विद्यार्थी देखते थे, उनसे वे आश्चर्य के साथ बहुत ही प्रसन्न होते थे। वह यह समझते थे कि हम लोग एक नवीन युग में आ गए हैं और भविष्य की उन्नति का स्वप्न देखा

करते थे। इस नवीन विद्या के प्रकाश से वह समय अलोकित हो गया था, जिसमें मुग़ल राज्य के अंतिम समय की कीर्ति और चमक-दमक भी कुछ सम्मिलित थी। परंतु यह ज्योति थोड़े ही दिन रहकर बुझ गई, जिसका एक कारण सन् १८५७ का ग़दर भी था।'

दिल्ली कालेज में १८२७ ई० में एक अंग्रेज़ी कक्षा भी खुल गई थी और उसका विरोध होने पर भी विद्यार्थियों की संख्या कम न थी। १८३१ ई० के रजिस्टरों से ज्ञात होता है कि उस समय ३०० विद्यार्थी अंग्रेज़ी पढ़ते थे। स्कूल अजमेरी दरवाजे के निकट था। लेकिन जब वह उन्नत होकर कालेज हो गया तो कश्मीरी दरवाजे के निकट यमुना नदी के समीप आगया और १८४३ ई० में स्कूल बादशाही पुस्तकालय में आया। उस समय नवीन शिक्षा से लोग घृणा करते थे, इसलिए विद्यार्थियों से कोई फ़ीस नहीं ली जाती थी, बल्कि उनको उत्साहित करने के लिए छात्रवृत्तियाँ दी जाती थीं। कालेज में पाश्चात्य विद्याओं के साथ एक प्राच्य विभाग भी था। गणित की शिक्षा बहुत ऊँचे दर्जे की होती थी। साहित्य और अँग्रेज़ी भाषा को लोग अधिक पसंद नहीं करते थे। लेकिन पाश्चात्य विद्याएँ और गणित लोगों को अधिक प्रिय थे। शिक्षा लेक्चरों द्वारा दी जाती थी, क्योंकि पुस्तकें दूर-दूर से आती थीं और वह भी मुश्किल से मिलती थीं तथा नवीन विद्याओं के अनुवाद भी नहीं हुए थे। अतः विद्यार्थी लेक्चरों को बड़े शौक़ से सुनते थे। प्रोफ़ेसर रामचंद्र, मिस्टर टेलर प्रिंसिपल और पं० अयोध्याप्रसाद असिस्टेंट प्रोफ़ेसर शिक्षा में खूब भाग लेते थे। प्राच्य विभाग में अरबी-फ़ारसी की शिक्षा उर्दू द्वारा दी जाती थी और यह विभाग विद्यार्थियों को बहुत प्रिय था। मौलवी इमामबख्श सहबाई फ़ारसी पढ़ाते थे। उक्त मौलवी साहब और टेलर साहब दोनों ग़दर में मारे गए।

दिल्ली कालेज से पढ़कर बड़े-बड़े प्रसिद्ध लोग निकले, जिनसे उर्दू भाषा की उन्नति और प्रचार पर बहुत प्रभाव पड़ा। उनमें से मौलवी नज़ीर अहमद, मास्टर प्यारेलाल आशोब, मौलाना आज़ाद, मौलाना हाली और मौलवी ज़काउल्ला के नाम विशेषतया उल्लेखनीय हैं। इन लोगों में कुछ ने सांसारिक उन्नति भी खूब की। मौलवी शहामत अली इंदौर के प्रधान मंत्री हो गए थे और डाक्टर मकुंदलाल उत्तर भारत में नवीन प्रणाली के अनुसार प्रसिद्ध

डाक्टर हो गए। डाक्टर चिम्मनलाल ईसाई हो गए थे, जो ग़दर में मारे गए।

१८४२ ई० में दिल्ली कालेज के संरक्षण में एक साहित्यिक सभा खोली गई, जिसके प्राण प्रोफ़ेसर रामचंद्र और मौलाना सहबाई थे। इसके उद्योग से अनेक उपयोगी पुस्तकें तैयार होकर दिल्ली में छपीं और विद्यार्थियों के बहुत काम आईं। इनमें से कुछ अँग्रेज़ी से और कुछ फ़ारसी से अनूदित हुई थीं। इसके अनुकरण में आगरा, लखनऊ और बनारस से ऐसी पुस्तकें निकलीं, जो इंडिया आफ़िस के पुस्तकालय में मौजूद हैं। उनका नाम ब्लूमहार्ट ने अपनी सूची में दिया है। इस प्रकार की पुस्तकों और अनुवादों से उर्दू इतनी सरल और सादी हो गई कि कारोबारी बातें लिखने के योग्य हो गई तथा ऐसी कि अन्य भाषाओं की पुस्तकें उसमें अनूदित हो सकें।

१८६४ ई० में रायबहादुर प्यारेलाल आशोब ने दिल्ली में एक और साहित्यिक-सभा खोली, जिसके वह स्वयं सेक्रेटरी थे। इसके प्रबंध में बहुत से उपयोगी लेक्चर दिए गए और उर्दू-गद्य का दीपक यद्यपि टिमटिमा रहा था परंतु बुझा नहीं। आशोब ही की प्रेरणा और सहायता से मौलाना आज़ाद और हाली ने नए ढंग की उर्दू कविता करना आरंभ किया और उन्हीं ने बहुधा अँग्रेज़ी चीज़ें अनुवाद करके मौलाना हाली को दीं कि वह उनको उर्दू का आवरण पहनाएँ।

यह पुराने दिल्ली कालेज के गणित के प्रोफ़ेसर थे। टेलर साहब के मेल-जोल से ईसाई हो गए थे। इन्होंने उक्त कालेज के अँग्रेज़ी स्कूल में सब से पहले शिक्षा पाई थी। बड़े तीव्र बुद्धि के और प्रतिभाशाली आदमी थे। उन्होने गणित संबंधी एक ऐसी विधि का आविष्कार किया था, जिससे यूरोप में वह गणिताचार्यों में प्रसिद्ध हो गए थे। मौलवी नज़ीर अहमद, मौलाना आज़ाद और ज़काउल्ला उनके शिष्य थे। मौलवी ज़काउल्ला को गणित अधिक प्रिय था इसलिए प्रोफ़ेसर रामचंद्र उनको बहुत चाहते थे और जीवनपर्यंत उन दोनों में मैत्री रही।

प्रोफ़ेसर रामचंद्र

प्रोफ़ेसर रामचंद्र बड़े निडर, सच्चे और दृढ़ विश्वासी थे। ईसाई हो जाने से बिरादरी से बहिष्कृत हो गए थे। अतः उनको बहुत कष्ट उठाना पड़ा और इसी से उनमें क्रूरता पैदा हो गई थी, जिसके कारण कभी-कभी वाद विवाद

और शास्त्रार्थ भी हो जाया करता था, लेकिन फिर भी बड़े दयालु और मामले के पक्के थे। ग़दर में वह भी प्राण-संकट में पड़ गये थे। उनके एक शिष्य ने उनको घर में छिपा लिया था जहाँ से वह भेस बदल कर निकल गए। जब शांति हो गई तो शहर में लौट आए और अपने कुछ मित्रों को भी बुला लिया। कहा जाता है कि वह पटियाला रियासत के शिक्षा-विभाग के डाइरेक्टर हो गये थे। उन्होंने रोम और यूनान के प्रसिद्ध तत्वदर्शियों और कवियों का संक्षिप्त वृतांत अँग्रेज़ी और अरबी पुस्तकों से छांट कर उर्दू में 'तज़किरतुल कामलीन' के नाम से लिखा था। यह पुस्तक पहले १८४६ ई० और फिर १८८७ ई० में नवलकिशोर प्रेस में छपी। इसमें कुछ अँग्रेज़ी, फ़ारसी और कुछ हिंदुस्तानी कवियों और तत्ववेत्ताओं जैसे वाल्मीकि, शंकराचार्य और विख्यात ज्योतिषी भास्कराचार्य का भी वर्णन है। उन्होंने 'उसूल इल्म हैत' (खगोल शास्त्र के सिद्धांत) और 'अजायब रोज़गार' (संसार की विलक्षण बातें) के नाम से दो पुस्तकें और लिखी थीं, जो १८४७ व १८४८ ई० में तैयार हुई थीं। इन पुस्तकों की भाषा भी बहुत सरल है। इनके गद्य के नमूने मौलवी गुलाम यहिदा 'तनहा' ने अपनी पुस्तक 'सैरुल मुसन्नफ़ीन' में दिए हैं।

मौलवी इमामबख़्श सहबाई पुराने दिल्ली कालेज में फ़ारसी-अरबी के प्रोफ़ेसर थे। बड़े स्वच्छ विचार के और सदाचारी आदमी थे। फ़ारसी भाषा में पारंगत थे और अपने समय में बड़े आदर के साथ देखे जाते थे। सर सैयद अहमद खां ने अपनी पुस्तक 'आसारुस्सनादीद' की रचना में उनसे बहुत सहायता ली थी।

इमाम बख़्श सहबाई

विद्यार्थियों में वह बहुत प्रिय थे और उनकी योग्यता का विद्यार्थियों पर बहुत प्रभाव पड़ा। काव्य कला के भी वह प्रसिद्ध उस्ताद थे। किले के अनेक शाहज़ादे उनसे अपनी कविता का संशोधन कराते थे। उन्होंने कई पुस्तकें लिखी हैं। ग़दर में मारे गए और उनका घर खुदवा डाला गया।

मौलवी गुलाम इमाम शहीद, गुलाम महम्मद के बेटे, अमेठी ज़िला लखनऊ के रहने वाले थे, जो लखनऊ के नामी कवियों में थे। यह 'नात' अर्थात् महम्मद साहब की प्रशंसा में अधिक कविता करते थे इसलिए 'मद्दाह-रसूल' और 'आशिक़-रसूल' के नाम से प्रसिद्ध थे। क़तील और मुसहफ़ी से

अपनी कविता का संशोधन कराते थे और फ़ारसी के गद्य-पद्य में आग़ा सैयद इस्माईल माज़िंदरानी के शिष्य थे। इलाहाबाद में पेशकार थे। नौकरी से पृथक् होने पर हैदराबाद से एक अच्छी रक़म पेंशन में मिलती रही। लखनऊ के समीप तथा हैदराबाद, मुरादाबाद, रामपुर और आगरे में इनके बहुत से शिष्य थे। सर सालार जंग, नवाब कल्ब अली खां और अन्य रईस उनका बहुत आदर करते थे। उन्होंने 'मजमूआ मीलाद शरीफ़', 'इन्शाये बहारे बेख़िज़ां', कुछ क़सीदे और ग़ज़लें लिखी हैं। 'इन्शाये बहारे बेख़िज़ां' में आगरे के ताजमहल का वर्णन पुराने ढंग के गद्य में बहुत ही अच्छा लिखा है।

मौलवी गुलाम इमाम शहीद

ख्वाजा गुलाम ग़ौस की जन्मभूमि काश्मीर थी, जहाँ उनके पूर्वज बड़े ऊँचे पदों पर थे। उनके पिता ख्वाजा हुजूरुल्ला काश्मीर से तिब्बत और फिर वहाँ से नैपाल आए, जहाँ गुलाम ग़ौस का १२४० हिजरी में जन्म हुआ। वह अपने माता-पिता के साथ चार वर्ष की अवस्था में बनारस आए जहाँ कुछ पुराने ढंग की शिक्षा प्राप्त करके १८४० ई० में अपने मामा ख़ान बहादुर मौलवी सैयद महम्मद ख़ां की मातहती में, जो संयुक्तप्रांत के लफ्टनेंट गवर्नर के मीर मुंशी थे, नौकर हो गए। वह लार्ड एलंबरा, गवर्नर जनरल, के साथ ग्वालियर के क़िले के युद्ध में गए थे। लड़ाई के समाप्त होने पर उनको एक ख़लअत सरकार से मिली थी। वह अपने मामा के मरने के पश्चात् उनकी जगह पर मीर मुंशी हो गए जहाँ उन्होंने बहुत दिनों तक अपना काम बड़ी योग्यता के साथ किया। १८८५ ई० में उन्होंने अवकाश ले लिया। ख्वाजा साहब को ख़ानबहादुरी की उपाधि के अतिरिक्त बहुत सा इनाम, ख़लअत और स्वर्ण पदक कैसर हिन्द का सरकार से मिला था। मिर्ज़ा ग़ालिब उनके बड़े मित्र थे। मिर्ज़ा के अनेक रोचक पत्र उनके नाम 'उर्दूए मुअल्ला' और 'ऊद हिन्दी' में हैं। 'फ़ुग़ाने बेख़बर' और 'खूँनाबा जिगर' नामक पुस्तकें उनकी रचनाएँ हैं। उन्होंने गुलाम इमाम शहीद के 'बहार बेख़िज़ां' का परिचय पुराने ढंग के गद्य में चापलूसी के साथ लिखा है। यों तो वह प्रायः साफ़ और सरल गद्य लिखते थे, परंतु पुस्तकों का परिचय पुरानी शैली के अनुसार अलंकृत उर्दू में लिखा करते थे।

गुलाम ग़ौस 'बेख़बर'

शम्सुलउल्मा डा० सैयद अली, बिलग्राम के एक प्रसिद्ध वंश के थे, जिसकी विद्वत्ता के लिए बड़ी ख्याति थी। आप यहाँ बड़ी योग्यता के साथ अपनी शिक्षा समाप्त करके इंग्लैंड गए और वहाँ वह यहाँ से अधिक प्रसिद्ध हुए। उनकी यात्रा का व्यय सर सालारजंग ने दिया था। वह अनेक भाषाओं के बड़े प्रेमी थे। अतः अरबी, फ़ारसी और संस्कृत के अतिरिक्त बंगला, मराठी, और तैलंगी भाषाओं के ज्ञाता थे। वह अपनी पुस्तकों 'तमद्दुन अरब' और 'तमद्दुन-हिन्द' के लिखने से साहित्यिक जगत में अधिक प्रसिद्ध हुए। ये दोनों पुस्तकें फ्रांस के डा० लीबान की फ्रेंच पुस्तकों के अनुवाद हैं। उन्होंने एक डाक्टरी पुस्तक का भी अनुवाद किया है। वह अलीगढ़ कालेज के मामलों में भी बहुत भाग लेते थे। उक्त दोनों पुस्तकों के लिखने से वह उर्दू लेखकों की अग्रश्रेणी में स्थान पाने के अधिकारी हैं।

शम्सुल उल्मा सैयद अली बिलग्रामी

आनरेबुल नवाब इमादुल मुल्क सैयद हुसैन बिल्ग्रामी सी० आई० ई०, उक्त डाक्टर सैयद अली के भाई थे। यद्यपि छोटे भाई विद्वत्ता में बड़े भाई से बढ़-चढ़ कर थे, लेकिन पब्लिक और राजनीतिक जीवन में बड़े भाई उनसे बढ़े हुए थे। सैयद हुसैन बहुत दिनों तक निज़ाम सरकार में बड़े-बड़े पद पर रहकर सेक्रेटरी आव स्टेट हिन्द की कौंसिल में चले गए थे। आपने कोई प्रसिद्ध पुस्तक नहीं लिखी। केवल कुछ निबंध और उन अभिभाषणों के कारण जो अलीगढ़ एजूकेशनल कान्फ्रेंस में पढ़े गए थे, साहित्यिक जगत में प्रसिद्ध हैं। इनके लेख अधिकांश शिक्षा विषयक हैं। 'हवा और पानी' का लेख विशेषतया बहुत ही उत्तम है और वैज्ञानिक होने पर भी आवश्यक परिभाषाएँ उसमें नहीं हैं। हैदराबाद में 'दायरतुल मआरफ़' की स्थापना उन्हीं ने की थी, जिसका उद्देश्य दुर्लभ और उपयोगी अरबी पुस्तकों का प्रकाशन था। उन्होंने बहुत समय कुरान के अँग्रेज़ी अनुवाद पर व्यय किया, लेकिन वह पूरा न हुआ।

सैयद हुसैन बिलग्रामी

मौलवी अज़ीज़ मिर्ज़ा इस समय के बड़े योग्य और प्रसिद्ध गद्य-लेखकों में थे। १८८५ ई० में अलीगढ़ कालेज से बी० ए० पास करके हैदराबाद में अनेक जगहों पर रहकर, वहाँ के होम सेक्रेटरी हो गए थे। उनकी रचनाएँ यह

हैं:—(१) नवाब फ़तेह निवाज़ मौलवी मह्दी हसन की इंग्लैंड-यात्रा की अँग्रेज़ी पुस्तक का अनुवाद 'गुलगश्त फ़िरंग' नाम से, (२) बहमनी बादशाहों के प्रसिद्ध वज़ीर ख्वाजा जहान इमामुद्दीन महमूद गावान की जीवनी 'सरितुल महमूद' के नाम से, (३) कालिदास के प्रसिद्ध नाटक 'विक्रमोर्वशीय' का उर्दू अनुवाद जिसके आरंभ में एक विद्वतापूर्ण प्रस्तावना है, जिसमें संस्कृत नाटक की उत्पत्ति और विभाग के संबंध में बहुत सी ज्ञातव्य बातें लिखी गई हैं। वह प्राचीन मुद्राओं के संचय करने के भी बड़े प्रेमी थे। अलीगढ़ कालेज और मुसलमानों की शिक्षा की ओर भी उनका अधिक ध्यान था। १९०९ ई० में नौकरी से अवकाश लेकर वह आल इंडिया मुसलिम लीग के जनरल सेक्रेटरी होगए थे। १९१२ ई० में उनकी मृत्यु हो गई। उनकी लेखन-शैली बड़ी सरल और रोचक है। अपने समय के प्रसिद्ध गद्य-लेखकों में थे।

मौलवी अज़ीज़ मिर्ज़ा

वर्तमान काल के प्रसिद्ध विद्वान् और पुस्तक लेखकों में मौलवी अब्दुल-हक़ का नाम विशेषतया उल्लेखनीय है। आप 'अंजुमन तरक्की उर्दू' के आनरेरी सेक्रेटरी और उसकी मुख्य पत्रिका 'उर्दू' के संपादक हैं। आप ही के उद्योग से दक्षिण में उर्दू का प्रचार हुआ। उक्त संस्था से उन्हीं के संरक्षण और प्रबंध से बहुत सी उपयोगी और उत्तम मूल और अनूदित पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं, जिनमें से अनेक पर उनकी विद्वत्तापूर्ण प्रस्तावना है, जिनसे उनकी जानकारी और शोध का पता लगता है। इसके अतिरिक्त पत्रिकाओं में उनके बड़े गम्भीर लेख प्रकाशित होते रहते हैं। उन्होंने अपना जीवन उर्दू भाषा की सेवा में अर्पण कर दिया है, जिसके कारण सैकड़ों पुरानी हस्तलिखित पुस्तकें, जिनका पता न था, छपकर प्रकाशित हो गई हैं। उर्दू के गद्य-पद्य के प्राचीन इतिहास का जितना ज्ञान हमको हुआ है वह अधिकांश उन्हीं के उद्योग का फल है। उन्होंने बहुत दिनों तक निज़ाम सरकार के यहाँ शिक्षा-विभाग में काम किया। वह बड़े नम्र स्वभाव के और चुपचाप काम करनेवाले हैं और इसी से अपने जीवन का वृत्तांत भी किसी को बतलाना नहीं चाहते। उनकी समालोचना बड़ी प्रबल और निष्पक्ष होती है। उर्दू के गद्य-लेखकों में उनका स्थान बहुत ऊँचा है और सब से बड़ी बात यह है कि वह

मौलवी अब्दुलहक़

कभी अच्छे हिन्दी शब्दों का परित्याग नहीं करते, बल्कि उनको अपने लेखों में बड़ी कुशलता के साथ खपा देते हैं। अलबत्ता उनकी लेखनशैली मौलाना आज़ाद की तरह किसी विशेष ढंग की नहीं होती है। जो लोग आज़ाद की चपल शैली को पसंद करते हैं, उनको इनका लेख रूखा और फीका अवश्य मालूम होगा। लेकिन इससे किसी को इन्कार न होगा कि उर्दू भाषा पर उनका पूरा अधिकार है। अलबत्ता उनकी शैली यदि किसी से मिलती है तो कुछ मौलाना हाली से। लेकिन वर्तमान समय की आवश्यकताओं और नवीनता की दृष्टि से वह हाली से भी बढ़ गए हैं। सबसे बड़ी बात यह है कि उन्होंने अपने प्रभाव से लोगों के हृदय में उर्दू भाषा का प्रेम उत्पन्न कर दिया है।

मौलवी अब्दुल हक़ के समान मौलवी वहीदुद्दीन भी प्रसिद्ध गद्य-लेखकों में थे। वह प्रसिद्ध सैयद घराने के थे जो पानीपत में बस गया था। उनके पिता हाजी फ़रीदुद्दीन शाह शरफ़बू अली कलंदर के क़ब्र के मुतवल्ली थे। मौलवी वहीदुद्दीन ने प्रारंभिक शिक्षा पाने के बाद लाहौर जाकर मौलाना फ़ैजुलहसन से और मौलाना अब्दुल्ला से अरबी की उच्च शिक्षा ग्रहण की, अँग्रेज़ी में इंट्रैंस और फ़ारसी में मुंशी फ़ाज़िल की परीक्षा में उत्तीर्ण हुए। फिर भावलपुर के शिक्षा-विभाग में नौकर हो गए। उसके कुछ दिनों बाद रामपुर हाई स्कूल में हेड मौलवी की जगह मिल गई। लेकिन वहाँ उनके संरक्षक जनरल अज़ीमुद्दीन ख़ां के बध हो जाने की घटना से वह अपने घर पानीपत चले गए और वहाँ एक दवाईख़ाना खोल कर हकीमी करने लगे। इसके पश्चात् मौलाना हाली द्वारा वह सर सैयद अहमद ख़ां से मिले। उन्होंने इनकी योग्यता देखकर इन्हें अपना प्राइवेट सेक्रेटरी बना लिया, जहाँ यह उनके लेखों में सहायता देते रहे। फिर उन्होंने अपना मासिक पत्र 'मआरिफ़' के नाम से निकाला। बाद में नवाब मुहसिनुल मुल्क के आग्रह से वह अलीगढ़ गज़ट के संपादक हो गए। लेकिन बीमार हो जाने के कारण उसको छोड़ दिया। फिर 'मुसलिम गज़ट' के संपादक हुए। लेकिन कानपुर के मसजिद के झगड़े के संबंध में उग्रलेख लिखने के कारण वह जगह भी उनको छोड़नी पड़ी। इसके बाद वह लाहौर के अख़बार 'ज़मींदार' के संपादक हुए। पर जब उसकी ज़मानत ज़ब्त हो गई तो वहाँ से भी उनको छोड़ना पड़ा।

मौलवी वहीदुद्दीन सलीम

अपने लेखों और अनुवाद की प्रसिद्धि से वह हैदराबाद के 'दारुल तर्जुमा' में बुला लिए गए। वहाँ उन्होंने 'वज़ा इस्तलाहात' के नाम से परिभाषाओं की पुस्तक लिखी। फिर उस्मानिया यूनीवर्सिटी में उर्दू के प्रोफ़ेसर हो गए।

उनकी लेखन-शैली बड़ी ओजस्वी, सरल और भावपूर्ण थी। वह अनेक पत्रों में लेख लिखा करते थे। विशेषकर उनके 'तुलसीदास की शायरी', 'उर्दू-देवमाला' और 'अरब की शायरी' नामक लेख (जो 'उर्दू' नामक पत्रिका में छपे हैं, बड़े उच्चकोटि के और पढ़ने योग्य हैं। एक बड़ी विशेषता उनके लेखों में यह थी कि वह अरबी-फ़ारसी के अपरिचित शब्दों के प्रेमी न थे, बल्कि मौलाना हाली की तरह हिंदी के मधुर और सुरीले शब्दों को निस्संकोच अपना लेते थे। उनकी पुस्तक 'वज़ा इस्तलाहात' बड़ी उपयोगी पुस्तक है। उससे उनकी विद्वत्ता और अन्वेषण का परिचय मिलता है। उनमें उन्होंने नवीन वैज्ञानिक शब्दों और मुहावरों के बनाने के बड़े अच्छे नियम दिए हैं।

शेख़ अब्दुल क़ादिर

शेख़ अब्दुल क़ादिर उर्दू भाषा और साहित्य के चिर-हितैषियों में थे। उनका जन्म लुधियाना में हुआ था, जहाँ उनके पूर्वज क़ानूनगोई का काम करते थे उनके पिता शेख़ फ़तेहउद्दीन माल के महकमे में नौकर थे। उनके मरने के समय शेख़ अब्दुल क़ादिर की अवस्था केवल पंद्रह वर्ष की थी। प्रारंभिक शिक्षा सफलता के साथ समाप्त करके उन्होंने फोरमैन क्रिश्चियन कालेज से १८९४ ई० में प्रथम श्रेणी में बी० ए० पास किया और 'पंजाब आबज़र्वर' के संपादन विभाग में चले गए, जहाँ १८९८ में वह प्रधान संपादक हो गए। फिर वहाँ से बैरिस्टरी पास करने के लिए विलायत गए, जहाँ तीन वर्ष ठहर कर वहाँ के बहुधा प्रसिद्ध लोगों से मिले तथा वहाँ के सार्वजनिक जीवन का मनन किया। लौटते समय यूरोप से अन्य देशों और मुसलमानी शहरों की यात्रा की, जिससे उनकी जानकारी बहुत कुछ बढ़ गई। यहाँ आकर उन्होंने पहले देहली में काम आरंभ किया। फिर दो वर्ष के पश्चात् लाहौर चले गए। पहले १९११ ई० में लायलपुर में सरकारी वकील नियत हुए। लेकिन १९२० ई० में उसको छोड़कर लाहौर में बैरिस्टरी करने लगे। १९२१ ई० में वह पंजाब हाईकोर्ट के जज, १९२३ ई० में पंजाब के क़ानूनी सभा के मेम्बर, और फिर उसके प्रेसीडेंट हो

गए। उसके पश्चात् १६२५ में पंजाब के शिक्षा-मंत्री और १६२६ ई० में लीग आव् नेशन्स की सभा में हिन्दुस्तान की ओर से प्रतिनिधि होकर जेनेवा गए।

उनको उर्दू से विशेष प्रेम था। जब वह अंडरग्रेजुएट थे तो अँग्रेज़ी में वर्तमान समय के उर्दू साहित्यिकों के विषय में व्याख्यान दिया करते थे, जो १८६८ ई० में छपकर प्रकाशित हुआ। स्वर्गीय पं० बिशननरायन दर ने उसकी बहुत प्रशंसा की थी, यद्यपि उनकी कुछ बातों से वह सहमत नहीं थे।

१६०१ ई० में उन्होने उर्दू की मासिक पत्रिका 'मख़ज़न' के नाम से जारी किया, जिसने उर्दू की बहुत सेवा की। १६२० ई० तक वह उसके संपादक रहे। उसके लेख इतने सर्वप्रिय हुए कि उसका संग्रह स्कूलों के कोर्स में प्रचलित हो गया। १६१७ ई० में वह कलकत्ते के उर्दू कान्फ्रेंस में सभापति हुए थे। उनकी मृत्यु से उर्दू-साहित्य को बड़ी क्षति पहुँची।

पंडितजी १८७६ ई० में फ़ैज़ाबाद में पैदा हुए, जहाँ उनके पिता पं० कन्हैयालाल इंजीनियरी के मुहकमें में नौकर थे। १८६४ ई० में उन्होंने कैनिंग

पं० मनोहरलाल ज़ुतशी

कालेज से बी० ए० पास करके ट्रेनिंग की परीक्षा पास की और पहले किसी स्कूल में टीचर हो गए। फिर १६०२ ई० में प्रथम श्रेणी में एम० ए० पास किया। १६०२ ई० से १६१० ई० तक ट्रेनिंग कालेज इलाहाबाद के प्रोफ़ेसर रहे और इस बीच में बहुधा लेख 'माडर्न रिव्यू' को अँग्रेज़ी में और 'ज़माना', 'अदीब' तथा 'कश्मीरी दर्पण' को उर्दू में भेजते रहे। १६१६ ई० में हेडमास्टरी के पश्चात् स्कूलों के इन्सपेक्टर रहे। एक वर्ष तक बनारस यूनीवर्सिटी के रजिस्ट्रार और एक वर्ष ट्रेनिंग कालेज इलाहाबाद के प्रिंसिपल रहे। १६१६ ई० में लोकल गवर्नमेंट के अंडर—सेक्रेटरी और १६२१ ई० में एक वर्ष शिक्षा-विभाग के असिस्टेंट डाइरेक्टर रहे। बाद में वह जुबली कालेज लखनऊ के प्रिंसिपल हो गए। १६४७ ई० में उनका देहांत हुआ। उन्होंने उर्दू में 'गुलदस्ता अदब' और अंग्रेज़ी में 'एजुकेशन इन् ब्रिटिश इंडिया' ('ब्रिटिश भारत में शिक्षा') के नाम से दो पुस्तकें लिखी हैं। इनके अतिरिक्त मिर्ज़ा ग़ालिब और चकबस्त इत्यादि के विषय में बड़े विद्वत्तापूर्ण लेख लिखे और विद्या संबंधी बहुतेरे वाद-विवाद में भाग लेते रहे। पुस्तकावलोकन के आप बड़े प्रेमी थे तथा समालोचक भी बड़े ऊँचे

दर्जे के थे। उनकी आलोचना बहुत न्यायपूर्ण और निष्पक्ष होती थी।

मुंशी दयानरायन निगम

पत्रकारों में मुं० दयानरायन निगम को कौन नहीं जानता। १८८४ ई० में कानपुर में एक प्रतिष्ठित कायस्थ परिवार में उनका जन्म हुआ। उनके पितामह मुंशी शिवसहाय एक प्रसिद्ध वकील और डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के वाइस चेयरमैन थे। निगम साहब ने १६०३ ई० में क्राइस्ट चर्च कालेज कानपुर से बी० ए० पास करके 'ज़माना' नामक पत्र निकाला, जो अब तक बड़ी सफलता के साथ चल रहा है। १६१२ ई० में उन्होंने 'आज़ाद' के नाम से एक दैनिक पत्र निकाला जो अब साप्ताहिक हो गया है। १६१५ ई० में वह आनरेरी मजिस्ट्रेट भी हो गए थे। वह विविध प्रकार के सार्वजनिक कामों जैसे—सामाजिक, साहित्यिक, राजनीतिक, शिक्षा और पत्र संबंधी कामों में लगे रहते थे। सामाजिक सुधार में उनके विचार बहुत उदार थे। राजनीतिक क्षेत्र में वह नर्म दल के थे। शिक्षा संबंधी और साहित्यिक कामों में वह विशेषतया संलग्न रहते थे। एक संपादक की दृष्टि से वह हमारे नवयुवकों के लिए मार्ग-प्रदर्शक हैं। वह उनको देखकर उनकी सफलता से शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं। वह आयुपर्यंत अपने प्रिय पत्र 'ज़माना' की उन्नति में लगे रहे, जो हमारे प्रांत का सबसे पुराना पत्र है। उसकी गणना उर्दू के उन कुछ विशेष पत्रों में है, जो उर्दू भाषा की सच्ची सेवा कर रहे हैं। इसकी विशेषता यह है कि इसमें योग्य हिन्दू-मुसलमान दोनों के लेख बिना किसी भेदभाव के प्रकाशित हुआ करते हैं और इसकी आलोचना बड़े ऊँचे दर्जे की होती है। इसमें सामाजिक और राजनीतिक लेख ऐसे लेखकों के होते हैं, जो गंभीर विचार के लिए प्रसिद्ध हैं। स्वयं निगम साहब के लेख बहुत सावधानी के साथ जँचे-तुले और निष्पक्ष होते थे, यद्यपि खेद है उनके पत्र में उनके लेख बहुत कम होते थे। वह हिन्दुस्तानी एकेडेमी के भी सदस्य थे।

लाला श्रीराम

लाला साहब का संबंध एक प्रसिद्ध खत्री वंश से था, जिसके मूल पुरुष अकबर के मंत्री राजा टोडरमल थे। उनके पूर्वज मुग़ल राज्य में बड़े-बड़े पद पर नियत थे। उनके पिता आनरेबुल रायबहादुर मदनगोपाल बार-ऐट-ला को दिल्ली और लाहौर के बच्चे-बच्चे जानते हैं। उनके चाचा रायबहादुर मास्टर प्यारेलाल 'आशोब'

पंजाब में प्रसिद्ध शिक्षा-नीतिज्ञ हुए हैं। मौलाना हाली और मौलवी मुहम्मद हुसैन आज़ाद उनके घनिष्ट मित्र थे। लाला श्रीराम १८७५ ई० में दिल्ली में पैदा हुए। १८९८ ई० में एम० ए० पास करके मुंसिफ़ हो गए। लाहौर इत्यादिक कई ज़िलों में उक्त पद पर रहकर दमा के रोग से ग्रस्त हो जाने के कारण १९०७ ई० में सरकारी नौकरी छोड़नी पड़ी और विद्या संबंधी कामों तथा अपने विशाल रियासत के प्रबंध में लग गए। १९३० ई० में वह दिवंगत हुए। ऊँचे दर्जे के शिक्षित होने के साथ वह बड़े अच्छे व्याख्याता और मिलनसार आदमी थे। उनका परिवार विद्या, धन-उदारता और जन-सेवा के लिए सदा से प्रसिद्ध रहा है।

लाला साहब 'तज़किरा हज़ार दास्तान' अथवा 'ख़ुमख़ाना जावेद' नाम के अद्वितीय तज़किरे के लेखक थे, जो खेद है उनके जीवन काल में पूरा नहीं हुआ। इसके चार विशाल खंड छप गए हैं और लगभग इतने ही और शेष हैं। यह उर्दू कवियो के वर्णन का भंडार और उनके चुनी हुई रचना का संग्रह है। इसके पढ़ने से पता चलता है कि इसके संकलन और संपादन में कितना समय और धन व्यय हुआ होगा और इसके खोज में उन्हें कितना परिश्रम करना पड़ा। इसके आरंभ का वर्णन योग्य लेखक ने इसके पहले खंड की भूमिका में विस्तार के साथ किया है। इसकी चार जिल्दें १९०६ ई० से १९२६ ई० तक प्रकाशित हुई हैं। इस अनुपम तज़किरे को यदि जानकारी की खान और कवियों के इतिहास का प्राण कहें तो अत्युक्ति न होगी। इस पुस्तक से सैकड़ों भूले-भटके कवियों का परिचय मिला, जिनमें से कुछ ऐसे अवश्य हैं, जिनकी रचना यदि हम तक न पहुँचती तो कोई हर्ज न था। वर्णन-शैली ऐसी गंभीर और शिष्ट है कि बुरों को अच्छा कर दिखाया है। कहीं-कहीं कुछ बातें अशुद्ध भी हैं। लेकिन मनुष्य से भूल हो ही जाती है, इसलिए ऐसा हो जाना कोई आश्चर्य नहीं है। योग्य लेखक ने कवियों की रचनाओं के चुनने में बड़ी कुशलता दिखलाई है। प्रत्येक कवि के चोटी के पद्य चुने हैं, जो उनकी सुरुचि और गंभीर विचार का द्योतक है। फिर उनकी लेखनशैली इतनी सरल, मुहावरेदार और परिमार्जित है कि सहसा साधुवाद कहने को जी चाहता है। यदि यह पूरा

ख़ुमख़ाना जावेद

हो जाता तो निस्संदेह उर्दू पद्य का एक अनुपम विश्वकोश होता। यह उनकी जीवनपर्यंत साहित्यिक सेवा का फल है। इस समय के सारे तज़किरा-लेखक इसके कृतज्ञ हैं और इससे लाभ उठाते हैं। यदि किसी को इसकी समालोचना की बहार देखना हो तो इसकी जिल्दों के अंतिम पृष्ठ को पढ़े और देखें कि किन-किन लोगों ने किस ढंग से गद्य-पद्य की रचना की है।

लाला साहब ने १८९८ ई० में 'दीवान अनवर' और १९०६ ई० में 'महताब दाग़' और 'जमीमा यादगार दाग़' नामक पुस्तकें भी प्रकाशित कीं। उनका स्थान आधुनिक उर्दू-साहित्य के क्षेत्र में बहुत ऊंचा है। वह उर्दू के बहुत बड़े हितैषी थे, जिन्होंने पुराने उर्दू कवियों को अमर कर दिया है। उनके पास पुरानी हस्तलिखित पुस्तकों और चित्रों का बहुत बड़ा संग्रह था। जो अब हिंदू यूनिवर्सिटी में पहुँच गया है। वर्तमान समय में उर्दू गद्य-लेखक इतने अधिक हैं कि विस्तारभय से उनका संक्षिप्त वर्णन करना भी कठिन है। इसलिए उनमें से कुछ के केवल नाम लिखे जाते हैं।

पं० बिशननरायन दर उर्दू के बड़े अच्छे कवि भी थे। उर्दू और अंग्रेज़ी दोनों के साहित्य की बड़ी अच्छी समालोचना लिखते थे। विशेषतया 'सरशार' के संबंध के लेख और शेख़ अब्दुलक़ादिर की पुस्तक 'न्यू स्कूल आफ़ उर्दू लिटरेचर' की आलोचना बड़ी रोचक और जानकारी से परिपूर्ण है। मिर्ज़ा जाफ़र अली ख़ां और असर लखनवी बड़े अच्छे कवि हैं। उनके लेख मीर व सौदा से हमने बहुत कुछ लाभ उठाया है। उनकी रचना बहुत सरल और साफ़ होती है।

पं० बिशननरायन दर

अहसन मारहरवी का समालोचना में पद बहुत ऊँचा है। दीवानवली का उन्होंने बड़ी योग्यता से संपादन किया। उनकी 'उर्दू लशकर' नामक पुस्तक भी पठनीय है, जिसमें उर्दू पद्य का विकास बड़ी सुंदरता के साथ दिखलाया है। उनके विचार बड़े स्वतंत्र थे और भाषा ज़ोरदार होती थी, लेकिन कभी-कभी व्यक्तिगत वाद-विवाद में पड़ जाते थे। १९४० ई० में उनका देहांत हुआ।

हामिद उल्ला अफ़सर, रशीद अहमद सिद्दीकी, सैयद मसऊद हसन रिज़वी और जलील अहमद क़िदवाई ये सब उर्दू भाषा के मान्य साहित्यसेवी और समालोचक हैं।

प्रोफ़ेसर नामी और सैयद ज़ामिन अली, इलाहाबाद यूनीवर्सिटी के उर्दू प्रोफ़ेसर, भी उर्दू साहित्य के बड़े ज्ञाता हैं।

हसरत मोहानी उर्दू पद्य और समालोचना के एक स्तम्भ हैं। लेख यद्यपि संक्षिप्त लिखते हैं, पर मौलिक, स्वतंत्र और स्वच्छ लिखते हैं।

ख़ान बहादुर मिर्ज़ा सुलतान अहमद अनेक पुस्तकों के रचयिता हैं। विविध विषयों पर बहुत सफ़ाई के साथ लिखते हैं, लेकिन शैली साधारण होती है।

सुलतान हैदर जोश एक विशेष ढंग से लिखने वालों में हैं, जिनके लेख 'अलनाज़िर' में छपा करते हैं।

सैयद सज्जाद हैदर यल्दरम कहानियाँ ख़ूब लिखते थे। लेखन-शैली बड़ी सुन्दर है, तुर्की जानते थे। एक तुर्की उपन्यास और एक नाटक 'ख्वारज़्म-शाह' नामक का उर्दू अनुवाद किया है। इनके लेखों का संग्रह 'ख़यालिस्तान' के नाम से प्रसिद्ध है। १६४३ ई० में वह दिवंगत हुए।

मौलवी ज़फ़र अली ख़ां साहित्यिकों और पत्रकारों में विशेषतया प्रसिद्ध हैं। अच्छे लेखक हैं। इनकी अनेक पुस्तकें 'अंजुमन तरक्की उर्दू' से प्रकाशित हुई हैं। राजनीतिक लेखों के लिखने का इनका विशेष ढंग है।

मौलाना हाशमी फ़रीदाबादी दक्षिण भारत के साहित्यसेवियों में प्रसिद्ध हैं, कई पुस्तकें लिख चुके हैं।

महदी हसन बहुत अच्छे शाब्दिक चित्रकार और विशेष शैली के लेखक थे। खेद है कि युवावस्था ही में वह चल बसे।

उर्दू की नवीन लेखन प्रणाली

उर्दू गद्य आजकल इतने विविध ढंग से लिखा जाता है कि उसकी विवेचना करनी कठिन है, इसलिए केवल दो प्रकार की शैली का संक्षेप से वर्णन किया जाता है।

पहला ढंग अरबी-उर्दू और उसके समक्ष भाषा-मिश्रित उर्दू

बहुधा लोगों की यह रुचि है कि लिखने में क्लिष्ट और अपरिचित फ़ारसी-अरबी शब्दों का उपयोग किया जाय, जिससे उनके लेखों की तड़क-भड़क मालूम हो। संभवतः इस शैली का आरंभ इस तरह पर हुआ कि सर सैयद और उनके अनुयायी बहुत ही सीधी-सादी उर्दू लिखते थे। कुछ लोगों को यह सूखा फीका मालूम होने लगा तो उन्होंने उसके मुक़ाबले में

अपने लेखों को रंजित करने के लिए फ़ारसी-अरबी शब्दों की भरमार शुरू कर दी। इसको सर सैयद का विरोध समझना चाहिए। हमारे विचार में इस शैली को मौलाना अबुलकलाम आज़ाद ने अपने अखबार 'अलहिलाल' में बहुत बरता। वह धर्म और राजनीति पर बहुत बड़े लिखनेवालों में हैं उनके लेखों में इस प्रकार की त्रुटियाँ नहीं हैं, पर उनके अनुयायियों में बहुत हैं। जिनके लेखों में सिवा शब्दों के क्रमबद्ध होने के कोई गुण नहीं है। यह शैली उन लोगों को बहुत पसंद आई जो मुसलमानों के हदीस और तफ़सीर का प्रचार चाहते हैं, जिससे उनमें धार्मिक भाव का संचार हो। उसके समक्ष कुछ लोगों ने हिन्दी और संस्कृत शब्दों का व्यवहार अधिक करना आरभ कर दिया। लेकिन इतना अच्छा है कि ऐसे लिखनेवाले अधिक नहीं हैं और उर्दू के शुभचिंतक उनका विरोध कर रहे हैं।

दूसरी परिपाटी काल्पनिक अर्थात् टैगोरी उर्दू

ऊपर की शैली के साथ-साथ एक दूसरी शैली भी चल रही है, जिसको काल्पनिक अथवा छायावाद टैगोरी उर्दू कह सकते हैं। इसलिए कि यह रवींद्र-नाथ टैगोर के ढंग का अनुकरण है, जो उन्होंने अपने गीतांजलि इत्यादि में ग्रहण किया है। सच पूछिए तो टैगोर और कुछ प्रसिद्ध अँग्रेज़ लेखकों का सच्चा अनुकरण नहीं है, बल्कि उन की रचना की नक़ल है, जिसमें मूल के गुणों का अभाव है। ये नकल करनेवाले न तो असली रहस्यवाद जानते हैं, न उनमें ऊँचे विचारों की योग्यता है। ऐसे लोगों का लेख कुछ लोगों को छोड़ कर, बिल्कुल कच्चा होता है। उसमें किसी प्रकार का साहित्यिक गुण नहीं होता, बल्कि अधिकांश अत्युक्ति, स्वच्छंदता और ऊपरी बातें होती हैं और कभी-कभी तो वह पागलों की जड़ मालूम होता है। फिर अंधेर यह है कि इन अस्त-व्यस्त पोतों की माला को उनके निर्माता सच्चे मोती समझते हैं। कभी-कभी तो ऐसे लेख अभद्र और अश्लील भी हो जाते हैं।

इस प्रकार का गद्य कहानियों से आरंभ हुआ, जिससे पाठकों को बहुत आनंद आने लगा। नई-नई जानकारी के रास्ते खुल गए। लेखकगण एक नई शैली के आविष्कारक बन बैठे और अपने विचारों को कविता के रूप में बिना छंद के रचकर दिखाने लगे, जिससे लोग उनको गद्य-कवि समझें।

कभी तो लेख में अरबी शब्द-विन्यास भर दिया गया और कभी नवीनता दिखलाने के लिए नए-नए शब्द गढ़े गए और साधारण व्याकरण-संबंधी नियमों को उलट-पलट दिया, जिससे उनका लेख एक चूं-चूं का मुरब्बा बन गया। इसी प्रकार अनेक परिवर्तन किए गए। प्राच्य और पाश्चात्य (रूमी और यूनानी) देवमाला छानी गई। कभी प्रकृति की निर्जीव चीज़ों को सजीव कल्पित करके बड़े वेग के साथ उनको संबोधित किया गया, जिसको पढ़ कर हँसी आती है। इस प्रकार के लेख एक उस्ताद की लेखनी से तो अलबत्ता सुशोभित और सुरीले हो सकते हैं, लेकिन नवसिखियों के हाथ से तो वह घरौंदा बन कर रह जाते हैं, जिसमें सिवा शब्दों के अर्थ का कहीं पता नहीं चलता।

उर्दू के पुराने समाचार पत्र

१८३६ ई० में अखबारों को स्वतंत्रता मिली। १८३८ ई० में मौलवी महम्मद हुसैन आज़ाद के पिता मौलवी बाक़र हुसैन ने दिल्ली से उर्दू अख़बार जारी किया, जिसमें वस्तुतः समाचार-संग्रह तो नहीं होता था, बल्कि वह एक साहित्यिक पत्र था और उसमें कभी तो ज़ौक़, ग़ालिब और मोमिन इत्यादि की ग़ज़लें होती थीं और कभी भाषा और मुहावरों पर वाद-विवाद होता था। सरकार उसकी सहायता करती थी। फिर १८५० ई० में मुंशी हरसुख राय ने जो एक भटनागर कायस्थ थे, 'कोहेनूर' के नाम से लाहौर से एक पत्र निकाला। यह पत्र ब्रिटिश इंडिया और देशी रियासतों में बहुत लोकप्रिय हुआ। काश्मीर और पटियाला नरेश उसका और उसके स्वामी का बहुत आदर करते थे। पहले वह साप्ताहिक था, फिर अर्ध साप्ताहिक और फिर वह सप्ताह में तीन बार प्रकाशित होने लगा। अंत में उसका पतन उन्हीं लोगों के हाथों हुआ, जिन्होंने उसमें काम सीख सीख कर उसके स्पर्धा में दूसरे पत्र निकालने आरंभ किये। उनमें से एक मुंशी नवलकिशोर भी थे।

फिर 'शोला तूर' और 'मतला नूर' कानपुर से, 'पंजाबी अख़बार' और 'अंजमुल अख़बार' लाहौर से, 'अशरफुल अख़बार' दिल्ली से, 'विक्टोरिया' स्यालकोट से, 'क़ासिमुल अख़बार' बंगलौर से, 'कश्फुल अख़बार' बंबई से, 'कारनामा' लखनऊ से और 'जरीदा रोजगार' मद्रास से निकले, जिनमें बहुतेरे थोड़े दिनों चलकर बंद हो गए।

१८५९ ई० में मुंशी नवलकिशोर ने 'अवध अख़बार' जारी किया, जो अब तक चल रहा है। यह हमारे प्रांत के प्रसिद्ध दैनिक पत्रों में रहा है। मुंशीजी के जीवनकाल में इसमें अंग्रेज़ी पत्रों की ख़बरें उर्दू में छपती थीं और कुछ टिप्पणी भी हुआ करती थी। इसकी कोई निश्चित नीति न थी, सिवा इसके कि राजनीतिक आंदोलन का विरोध किया करता था। साप्ताहिक से दैनिक हुआ। इसी के समय में 'शम्सुल अख़बार' मद्रास से विशेषतया मुसलमानों के लिए निकल कर कुछ दिनों के बाद बंद हो गया। 'अख़बार आम' लाहौर से पं० मकुन्दराम ने निकाला जो पहले 'कोहनूर' में नौकर थे। एक सरकारी पेंशनर इसके सहायक थे। यह विशेष ख़बरों का पत्र था और बहुत सस्ता था। कुछ दिनों सरकार उसकी सहायता करती रही और स्कूलों में वह जाया करता था, लेकिन फिर यह सहायता बंद हो गई। पहले वह साप्ताहिक था, फिर धीरे-धीरे दैनिक हो गया। इसमें कोई साहित्यिक विशेषता न थी। लेकिन सस्ता होने से इससे लोगों को अख़बार पढ़ने की रुचि पैदा हो गई थी।

'अवध पंच' १८७७ ई० में लखनऊ से निकला, जो एक हास्य-रस का साप्ताहिक पत्र था। अपनी युवा अवस्था में यह इतना सर्वप्रिय हुआ कि इसके बहुत से अनुयायी पैदा हो गए थे। यह बड़ी स्वतंत्रता के साथ हास्य-रस के लेख लिखा करता था, जिसकी देश में बड़ी ज़रूरत थी। साहित्यिक दृष्टि से यह बहुत ऊँचे दर्जे का पत्र था और सबसे बड़ी बात यह थी कि यह किसी संप्रदाय या धर्म का पक्षपाती न था। मुंशी सज्जाद हुसैन इसके योग्य संपादक थे और उस समय के हास्य-रस के लिखने वाले इसमें अपना लेख भेजा करते थे।

'हिंदुस्तानी' लखनऊ से १८८३ ई० से प्रकाशित हुआ। गंगाप्रसाद वर्मा इसके संपादक थे। यह पहला उर्दू पत्र था जो राजनीतिक विषयों पर लिखा करता था। यह ऊँचे दर्जे का पत्र था और कभी छोटी-छोटी बातों और तुच्छ झगड़ों में अपना समय नष्ट नहीं करता था। पहले साप्ताहिक था, फिर सप्ताह में तीन बार निकला करता था, इसकी भाषा साहित्यिक न थी। संभव है अनुवाद की जल्दी इसका कारण रहा हो। 'पैसा अख़बार' लाहौर से १८८७ ई० में प्रकाशित हुआ। मुंशी महबूब आलम इसके संपादक थे। यह बहुत सस्ता था और लेख अच्छे होते थे। इसी से लोग इसको अधिक पढ़ते

थे और फलतः इसमें विज्ञापन बहुत निकलते थे।

इस प्रसंग में मौलाना शरर का 'दिलगुदाज़' बहुत पुराना पर्चा था। 'ज़माना' की चर्चा मुंशी दयानरायन निगम के वर्णन में हो चुकी है, 'अदीब' इलाहाबाद के इंडियन प्रेस से थोड़े दिनों निकल कर बंद हो गया। 'अलनाज़िर' लखनऊ से बड़े स्वतंत्र विचार का उत्तम रिसाला है, जिसके संपादक मौलाना ज़फ़रुलमुल्क अलवी हैं। 'हुमायूँ', 'शबाब उर्दू', 'मख़ज़न', 'आलमगीर' और 'हज़ार दास्तान' लाहौर से निकलते हैं। 'निगार' पहले भूपाल से, अब लखनऊ से निकलता है। इसके संपादक नियाज़ फ़तेहपुरी हैं। बड़ा उच्चकोटि का पर्चा है। 'उर्दू' दिल्ली से और 'मआरिफ़' आज़मगढ़ से निकलता है। 'सुहैल' अलीगढ़ का बड़ा अच्छा रिसाला है। इसके उद्देश्य बहुत ऊँचे हैं। यदि उन्नति करता रहा तो यह उर्दू की सर्वश्रेष्ठ पत्रिकाओं में गिना जायगा। मौलाना हसरत मोहानी का 'उर्दूयमुअल्ला' बड़े प्रसिद्ध पत्रों में था; पर अब वैसा नहीं रहा। 'मुरक्क़ा' लखनऊ का भी अच्छा पत्र था। 'अकबर' नामक एक मासिक पत्र इलाहाबाद से निकला था, लेकिन कुछ दिन चलकर बंद हो गया। सब का तो नाम गिनाना कठिन है, लेकिन दो-तीन प्रसिद्ध पत्रिकाएँ जो बंद हो गईं वे 'दकनरिवीव', 'हसन' और 'अल अस्र' हैं। बहुधा उर्दू पत्रकारों की चर्चा उनके नाम के साथ पीछे हो चुकी है। यहाँ मौलाना ज़फ़रुल मुल्क और मौलवी बशीरुद्दीन संपादक अलबशीर इटावा और ताजवर नजीबाबादी के नाम और लिखे जाते हैं। यदि किसी को अन्य उर्दू दैनिक पत्रों के संपादकों के नाम जानना हो तो 'अखबारनवीसों' नामक पुस्तक महम्मदुद्दीन फ़ौक़ संपादक कश्मीरी मैगज़ीन लाहौर कृत देखें।

साहित्यिक उर्दू-पत्रिकाएँ

अध्याय ३

उर्दू उपन्यास का आरंभ—शरर और सरशार का समय

कहानी कहने-सुनने की रुचि दुनिया में बहुत पुरानी है और मनुष्य के हृदय पर उसका बहुत गहरा प्रभाव पड़ता है। पुराने उर्दू क़िस्से या तो फ़ारसी से अनूदित हुए या संस्कृत के फ़ारसी अनुवाद से लिए गए, अथवा इन्हीं दोनों चीज़ों को काट-छांट कर नई कहानियाँ गढ़ ली गईं। ये विविध प्रकार की हैं। किसी में वीरता के क़िस्से हैं, किसी में देवों और परियों की चर्चा है, किसी में नीति और उपदेश हैं। कोई बहुत ही अश्लील और भ्रष्ट हैं। सब की वर्णन-शैली वही एक ही प्रकार की साधारण है और ऐसे ही घटनाएँ भी लगभग एक ही तरह की हैं, जिनको पढ़कर जी ऊब जाता है। विचित्र बातें सभी में हैं। मनुष्य देवों और परियों से निस्संकोच मिलते-जुलते हैं। जादू और इन्द्रजाल हर कहानियों में किसी न किसी रूप में भरा हुआ है, बल्कि उसी पर कहानी का आधार है। वर्णन-शैली प्रायः सादी और शिक्षाप्रद है, लेकिन चरित्र-चित्रण का किसी में पता नहीं है, न प्रत्यक्ष या परोक्ष में किसी प्लाट का निर्माण है। अधिकांश रूप और प्रेम की नोक-झोंक, जादूगरों की लड़ाइयाँ, जादूगरों की शाहज़ादों से मुठभेड़ तथा मनुष्य का पशुओं के रूप में बदल जाना, इत्यादि दिखलाया गया है। यह सब कुछ है, लेकिन रोज़ की घटनाओं का अभाव है।

उर्दू की पुरानी कहानियाँ

कुछ पुरानी प्रसिद्ध कहानियों के नाम ये हैं:—(१) अलफ़लैला (२) बोस्तान ख़याल (३) दास्तान अमीर हमज़ा और उसकी शाखा तिलिस्म होशरुबा इत्यादि (४) हातिमताई (५) बाग़बहार। हिन्दुस्तानी कहानियाँ जैसे बैताल पचीसी, कलेला दमना, सिंहासन बत्तीसी, गुलबकावली और तोता कहानी, इत्यादि।

कुछ पुरानी कहानियाँ

बहुधा ऐसी कहानियाँ नवलकिशोर प्रेस लखनऊ में छपी, जिसके मालिक मुंशी नवलकिशोर सी० आई० ई० थे। प्रेस ने उर्दू भाषा की बहुत सेवा की और उसकी उन्नति पर बहुत प्रभाव डाला। इस प्रेस में दुर्लभ पुरानी पुस्तकें, प्रसिद्ध फ़ारसी-अरबी पुस्तकों के अनुवाद, नई पुस्तकें जनता के रुचि के अनुसार तथा स्कूली पुस्तकें प्रकाशित हुईं, जिससे उर्दू भाषा बहुत ऋणी है।

नवलकिशोर प्रेस लखनऊ

मुंशी जी का जन्म अलीगढ़ ज़िले में बिस्तोई नामक ग्राम में १८३६ ई० में हुआ था। उनके पितामह मुंशी बालमुकुंद आगरे में सरकारी ख़ज़ांची थे और उनके पिता मुंशी जमुनादास कुछ कारोबार करते थे। मुंशी नवलकिशोर अपने परिश्रम से बने थे। बचपन ही से उनकी व्यापार की ओर रुचि थी। समाचार पत्रों से उनको बड़ा प्रेम था। मुंशी हरसुखराय की अधीनता में लाहौर के 'कोहनूर' अख़बार के कर्मचारियों में कुछ दिनों काम करके, प्रेस का अनुभव प्राप्त किया। ग़दर के पश्चात् वहाँ से नौकरी छोड़ कर लखनऊ चले आए, जहाँ १८५८ ई० में सर राबर्ट मांटगुमरी और कर्नल एबट के संरक्षण में अपना प्रेस खोला। भाग्यलक्ष्मी उनकी सहायक थी, दिनों-दिन उन्नति होती गई। उनकी योग्यता और ईमानदारी से उनका प्रेस थोड़े ही दिनों में हिंदुस्तान क्या, बल्कि एशिया के बड़े प्रेसों में गिना जाने लगा। उन्होंने प्रचुर धन, दुर्लभ अमूल्य हस्तलिखित पुस्तकों के ख़रीदने में व्यय किया, जिनमें बहुतों को प्रकाशित करके जनता को बहुत लाभ पहुँचाया। हज़ारों अरबी, फ़ारसी, संस्कृत और उर्दू पुस्तकों का प्रकाशन हुआ। अनेक प्रकार के कुरान छपवाए, जिससे मुसलमानों को बहुत लाभ हुआ। १८५८ ई० ही में उन्होंने 'अवध अख़बार' भी जारी किया, जिसकी चर्चा पीछे आ चुकी है। १८६५ ई० में उनकी मृत्यु हो गई, उन्होंने लगभग एक करोड़ रुपये की संपत्ति और कारोबार छोड़ा। उनके पश्चात् उनके दत्तक पुत्र मुंशी प्रयागनरायन ने भी उर्दू हिन्दी भाषा की बहुत सेवा की। अब उनके पश्चात् उनके होनहार पुत्र मुंशी बिशुननरायण भी अपने पिता के अनुकरण में बड़ी सफलता के साथ प्रेस का संचालन कर रहे हैं।

यह एक विशालकाय पुस्तक कई जिल्दों में है। मूल पुस्तक फ़ारसी में

फ़ैज़ी ने अकबर के मनोरंजन के लिए लिखी थी। इसमें सत्रह अठारह हज़ार पृष्ठ होंगे। इसके पाँचवें खंड का नाम 'तिलिस्म होशरुबा' है, जो सात जिल्दों में है। इसके चार जिल्दों का अनुवाद मीर मुहम्मद हुसैन जाह और शेष का अहमद हुसैन क़मर ने किया है। एक अनुवाद पद्य में मुंशी तोताराम ने भी किया है। इस पुस्तक के पहले खंड 'नौशेरवाँ नामा' का अनुवाद मुंशी नवलकिशोर ने शेख़ तसद्दुक़ हुसैन दास्तान गो (कथावाचक) से कराया था। यह एक बहुत बड़ा कल्पित क़िस्सा (कथासरितसागर के समान) अमीर हमज़ा का है, जो मुहम्मद साहब के चचा थे। इसमें एक कहानी से सैकड़ों कहानियाँ निकलती चली गई हैं। इतने बड़े पोथे को छाप कर प्रकाशित करना नवलकिशोर प्रेस ही का काम था।

दास्तान अमीर हमज़ा

यह पुस्तक भी नौ बड़ी-बड़ी जिल्दों में है, जिसको मीर तक़ी ख़्याल ने अपनी प्रेमिका के मनोरंजन के लिए लिखा था। मीर तक़ी गुजरात के निवासी थे, जो पीछे दिल्ली में चले आए थे। इस पुस्तक को महम्मदशाह रंगीले ने बहुत पसंद किया और उन्हीं के समय में यह समाप्त भी हुई। इसमें भी लगभग चार हज़ार पृष्ठ हैं, जिनमें पाँच जिल्दों का उर्दू अनुवाद ख्वाजा बद्रुद्दीन उपनाम अमान देहलवी और दो का छोटे आग़ा ने लखनऊ में किया तथा पूरी पुस्तक का संशोधन किया।

बोस्तान ख़याल

इन सब पुस्तकों में बड़ी त्रुटि यह है कि उनमें सच्ची भाव-व्यंजना और चरित्र-चित्रण का अभाव है। कोई निश्चित प्लाट नहीं है। कुछ प्रसिद्ध लोगों की काल्पनिक कहानियाँ हैं, जिनमें जिन और देवों से लड़ाई और जादूगरों से मुठभेड़ का वर्णन है। कभी-कभी वह जादू में फँस भी जाते हैं और अपनी प्रेमिका को उनके पंजे से छुड़ा लाते हैं। क़िस्से की तमाम घटनाएँ एक ही प्रकार की हैं, जिनसे जी ऊब जाता है और उसमें कोई परिवर्तन या नवीनता नहीं है और न उसमें जीवन की दैनिक घटना की कहीं चर्चा है। बहुधा ये क़िस्से फ़ोर्ट विलियम कालेज कलकत्ता से प्रकाशित हुए थे और नवलकिशोर प्रेस से प्रकाशित हुए हैं।

'सुरूर' ने उपन्यासों के निर्माण में बहुत सहायता दी। अपनी प्रसिद्ध

पुस्तक 'फ़िसाना-अजायब' के लिखने से लोगों में कहानी की रुचि पैदा कर दी।

मिर्ज़ा रज़बअलीबेग 'सुरूर'

यह अवश्य है कि उनकी इस पुस्तक के आनुप्रासिक और अलंकृत लेख से कहीं-कहीं आशय का गला घोंट दिया गया है और वर्णन की शृंखला अस्त-व्यस्त हो गई है। घटनाएँ साधारण और भाषा बनावटी और ऍच-पेंच की है।

अलबत्ता मौलाना नज़ीर अहमद के कुछ क़िस्से वर्तमान उपन्यासों की सीमा तक पहुँच जाते हैं, यद्यपि उनमें भी उपन्यास लिखने के वर्तमान नियमों

मौलाना नज़ीर अहमद

का पूरा अनुकरण नहीं है। उनमें आद्योपांत सामाजिक या शिक्षा तथा धर्म विषयक उपदेश ही उपदेश है। उनकी 'रोयाय सादिक़ा' 'तोबतुन्नसूह' और 'मिरातुनउरूस' की तह में कोई न कोई नैतिक शिक्षा अवश्य पाई जाती है, जो बहुत बलपूर्वक सिखाई गई है। फिर भी उन्होंने बड़ी बात यह की कि असंभव चमत्कारों को अपनी कहानियों से बिल्कुल निकाल दिया और साधारण दैनिक घटनाओं को एक सुव्यवस्थित प्लाट में बड़ी सुंदरता के साथ वर्णन किया है। उनकी पुस्तकों में उस समय के रस्मोरिवाज, स्वभाव, रंग-ढंग, और रहन-सहन आदि के सजीव चित्र हैं, जो उनकी निरीक्षण शक्ति के द्योतक हैं। भाषा पर उनका पूरा अधिकार था, यद्यपि वह पुराने ढंग के विनोद से कहीं-कहीं नीरस हो गई है। फिर भी उनके उपन्यासों का प्रवाह एक विशेष चीज़ है, लेकिन कहीं-कहीं अप्रासंगिक, अव्यवस्थित तथा असंबद्ध बातों से कहानी के तारतम्य में अंतर पड़ गया है। चरित्र-चित्रण रोचक अवश्य हैं, लेकिन आवश्यकता से अधिक उपदेशात्मक हैं।

स्वर्गीय मुंशी सज्जाद हुसैन ने १८७७ ई० से लखनऊ से 'अवध पंच' नामक पत्र निकाल कर हिन्दुस्तानी पत्रकारी और उर्दू साहित्य का बड़ा उपकार

अवध पंच और उसकी साहित्यिक सेवा

किया। गद्य की एक विशेष शैली का निर्माण किया। हास्य-रस में अब तक उर्दू साहित्य शून्य था, उसको उन्होंने गद्य में प्रतिष्ठित कर दिया। स्वच्छ भाषा का समावेश करके पुस्तकों की ज़ोरदार आलोचना की और उपन्यास-लेखन कला को उन्नत किया। 'अवध पंच' पहला पत्र है, जिसने अपनी एक निश्चित नीति निर्धारित कर ली थी। वह केवल समाचार ही नहीं प्रकाशित करता था, बल्कि

जनता के मामलों में अपनी स्वतंत्र राय रखता था और जातीय अधिकार का रक्षक था। यही नहीं वह हिन्दुस्तानी रईसों का उपदेशक, कांग्रेस के सिद्धांतों का समर्थक और हिन्दू-मुसलिम मेल का प्रचारक था। अलबर्ट बिल और इंकम-टेक्स एक्ट का घोर विरोधी था। लेकिन इसी के साथ सामाजिक मामलों में पुरानी चाल का था। सर सैयद और उनके विचारों, स्त्री शिक्षा और पर्दे के तोड़ने का वह घोर विरोधी था। सारांश यह कि उक्त पत्र में नए और पुराने दोनो ढंगों का सम्मिश्रण था। उसको अनेक योग्य लेखक मिले थे, जैसे मुंशी सज्जाद हुसैन के अतिरिक्त मिर्ज़ा मच्छू बेग आशिक़ 'सितम ज़रीफ़', पं० त्रिभुवन-नाथ हिज्र, मुं० ज्वालाप्रसाद बर्क़, अहमदअली कसमंडवी, अकबर इलाहाबादी, नवाब सैयद महम्मद आज़ाद इत्यादि जिनमें से कुछ लोगों का वर्णन अलग किया गया है।

'अवध पंच' यों तो एक हास्य-रस का श्रेष्ठ पत्र था, लेकिन कभी-कभी व्यक्तिगत आक्षेप व्यंग और तू तू मैं-मैं पर उतर आता था। जैसे 'फ़िसाना आज़ाद' 'हालीदाग़' और 'गुलज़ार नसीम' इत्यादि के लेखों में देखा गया है। लेकिन निम्न लेख बड़ी सभ्यता और गंभीरता के साथ लिखे गए थे। यथा लखनऊ के सामाजिक जीवन के सजीव चित्र, मुहर्रम, चिहल्लुम, ईद, बक़रीद, शबबरात, होली, दिवाली, बसंत, ऐशबाग़ के मेले, नाचरंग के जलसे और दावतें, मुशायरे, अदालतें, मुर्ग़ा और बटेर की लड़ाइयाँ और एलेक्शन के मुक़ाबले इत्यादि।

मुंशी सज्जाद हुसैन, मुंशी मंसूरअली डिप्टी कलेक्टर के बेटे थे, जो पेंशन लेकर हैदराबाद में सिविलजज हो गए थे। सज्जाद हुसैन १८५६ ई० में काकोरी में पैदा हुए। केनिंग कालेज से इंट्रेंस की परीक्षा पास करके कुछ दिनों तक इधर-उधर नौकरी करते रहे।

मुंशी सज्जाद हुसैन

१८७७ ई० में उन्होंने अपना पत्र 'अवध पंच' निकाला। उनकी योग्यता और सुशीलता से उनके अनेक मित्र पैदा हो गए। कुछ दिनों तक पं० रतननाथ 'सरशार' उनके पत्र में लेख भेजते रहे। लेकिन जब वह 'अवध अख़बार' के संपादक हो गए तब यह बंद कर दिया। मुंशी सज्जाद हुसैन पहले आदमी थे, जिन्होंने हिन्दुस्तान में एक हास्यरस का पत्र निकाला, जिसने देश और उर्दू भाषा की पूरी सेवा की। वह बड़े नेक और पक्षपात रहित आदमी थे। कभी

धर्म संबंधी झगड़े के लेखों को अपने पत्र में स्थान नहीं देते थे। उनकी लेखन शैली एक विशेष ढंग की थी। उनकी जानकारी के साथ हास्यरस का पुट गहरा होता था। लेख बहुत ही स्वच्छ हुआ करते थे। उन्होंने कल्पित पत्र जो हिंदुस्तानी रईसों के नाम लिखे हैं वे उपदेश से परिपूर्ण हैं। वह एक बड़े उपन्यास लेखक भी थे। उनके उपन्यासों की नामावली इस प्रकार है—हाजी बग़लोल; तरहदार लौंडी; प्यारी दुनिया; अहमक्कुज्ज़न; मीठीछुरी; कायापलट; और हयात शेख़चिल्ली। ये सब बड़े रोचक हास्यरस में लिखे गए हैं। वह १९०१ ई० में फ़ालिज के रोग में ग्रस्त हुए और १९१५ ई० में मर गए। 'अवधपंच' १९१२ ई० ही में बंद हो गया था।

मिर्ज़ा मच्छू बेग 'आशिक़'

मिर्ज़ा महम्मद मुर्तजा उपनाम मच्छू बेग, जिनका कविनाम आशिक़ था, मिर्ज़ा असग़रअली बेग के बेटे थे। लखनऊ के कुलीनवंश में उनका विशेष स्थान था। व्यायाम के बड़े प्रेमी थे। बाँक-पटा इत्यादि अपने नाना से सीखा था, कविता का उनको बचपन ही से प्रेम था। नसीम देहलवी के शागिर्द थे और सुंदर कविता लिखते थे। लेकिन पद्य की अपेक्षा वह गद्य में अधिक प्रसिद्ध हुए। 'सितम ज़रीफ़' के नाम से 'अवध पंच' में लेख भेजा करते थे। उनके लेख भाषा और मुहावरों की शुद्धता में अनुपम हैं। उन्होंने 'गुलज़ार नजात', 'मीलाद शरीफ़', (पद्य में) 'आफ़ताब क़यामत', (एक हास्य की कविता जो इलाहाबाद में पढ़ी गई थी) 'बहार हिन्द' (उर्दू मुहावरों का एक अपूर्ण कोश) तथा 'मसनवी नैरंग ख्याल' नामक पुस्तकें लिखीं। उनके 'अवध पंच' के लेखों का संग्रह 'चश्म बसीरते' के नाम से अलग छप गया है उनका उर्दू दीवान उनके लड़के मिर्ज़ा महम्मद सिद्दीक़ के पास हैं जो अब तक प्रकाशित नहीं हुआ। कलकत्ते के 'भारतमित्र' के भूतपूर्व संपादक मुंशी बालमुकुंद गुप्त उनके शिष्य थे। मिर्ज़ा मच्छू बेग बड़े प्रसन्नचित्त, बिनम्र, और सुशील आदमी थे। उनके मित्रों की संख्या भी बहुत थी। स्वभाव विनोद से परिपूर्ण था। स्वाभिमान और आत्मसम्मान यहाँ तक था कि उन्होंने कभी नौकरी नहीं की। राजनीति में भी उनकी रुचि थी। अतः एक बार इंडियन नेशनल कांग्रेस के डेलीगेट हुए थे।

पंडित त्रिभुवननाथ सप्रू उपनाम 'हिज्र', पं० विशंभरनाथ के बेटे थे।

१८५३ ई० में पैदा हुए। कैनिंग कालेज लखनऊ से अँग्रेज़ी शिक्षा प्राप्त करके अख़बारों में लेख लिखा करते थे। कुछ दिनों लखनऊ में वकालत भी की थी। बड़े मिलनसार आदमी थे।

पंडित त्रिभुवननाथ 'हिज्र'

नवाब सैयद महम्मद आज़ाद

नवाब सैयद महम्मद आज़ाद आई० एस० ओ० १८४६ ई० में ढाके में पैदा हुए। पूर्वी बंगाल के एक धनाढ्य परिवार के थे। प्रारंभिक शिक्षा आगा अली असफ़हानी से प्राप्त की, जिनसे 'बुरहानकाता' के विषय में मिर्ज़ा ग़ालिब से वाद-विवाद हुआ था। उन्होंने अंग्रेज़ी निजी तौर पर पढ़ी थी लेकिन उसमें अच्छा अभ्यास कर लिया था। आरंभ में सब रजिस्ट्रार हुए, फिर धीरे-धीरे, उन्नति करके उसी विभाग के इन्सपेक्टर-जनरल हो गए थे। दो बार बंगाल कौंसिल के सभासद भी हुए थे और इम्पीरियल सर्विस आर्डर (आई०, एस० ओ०) का तमगा उनको मिला था। नौकरी से विश्राम लेकर वह पहले एक फ़ारसी के अख़बार 'दूरबीन' में लेख लिखा करते थे। उसके पश्चात् 'अवध अख़बार', 'अवध पंच' और 'आगरा अख़बार' इत्यादि में लेख भेजा करते थे। १८७८ ई० में उनका उपन्यास 'नवाबी दरबार' के नाम से निकला, जिसमें पुराने ढर्रे के नवाबों की मूर्खता का ख़ूब चित्र खींचा है। यह पुस्तक बहुत सर्वप्रिय हुई। वह इंग्लैंड भी गए थे और जो पत्र वहाँ से लिखे थे वह बहुत ही रोचक हैं। उन्होंने एक पुस्तक 'नई लुग़त' के नाम से सानुप्रासिक हास्यरस में लिखी थी।

मुंशी ज्वालाप्रसाद 'बर्क़'

मुंशी ज्वालाप्रसाद उपनाम 'बर्क़' बड़े प्रतिभाशाली और योग्य पद्य और गद्य दोनों के लेखक थे। १८६३ ई० में सीतापुर में पैदा हुए। कैनिंग कालेज लखनऊ से १८८२ ई० में बी० ए० पास करके १८८३ ई० में क़ानून की परीक्षा पास की और कुछ दिनों वकालत करके १८८५ ई० में मुंसिफ़ हो गए। फिर धीरे-धीरे उन्नति करके सेशन जजी तक पहुँचे। १९०९ ई० में ग्रीफ़म कमेटी के सभासद हुए थे। १९११ ई० में प्लेग से उनकी मृत्यु हो गई। 'फ़िसाना आज़ाद' की लेखन-शैली उनको बहुत पसंद थी और कुछ अंश तक उन्होंने उसका अनुकरण भी किया था। उनकी 'मसनवी बहार' बहुत ही ऊँचे दर्जे की है। यह सर सैयद अहमद ख़ाँ को बहुत पसंद थी। वह बड़े अच्छे अनुवादक भी थे। बंकिम बाबू के बंगाली

दुलहिन, प्रताप रोहिणी और मृणालिनी के अनुवाद उन्होंने बहुत ही सुंदर किए हैं, जिनमें मूल का आनंद आता है। इनके अतिरिक्त शेक्सपियर के कुछ नाटकों का भी उन्होंने उर्दू में अनुवाद किया है, जिनमें से कुछ प्रकाशित नहीं हो सके।

अहमद अली 'शौक़'

मुंशी अहमद अली 'शौक़' क़िदवई असीर के शिष्यों में थे। ग़ज़ल और मसनवी अच्छी लिखते थे। उन्होंने कुछ नाटक गद्य-पद्य में लिखे हैं, जिनमें 'क़ासिम जुहरा' और 'मेक्फ़रसन-लूमो' बहुत प्रसिद्ध हैं। उनकी मसनवी 'आलम ख़याल' की भाषा बड़ी मीठी और सुंदर है। इस पुस्तक में एक दुखी स्त्री की कहानी है, जो अपने पति की प्रतीक्षा कर रही है। इसमें फ़ारसी की विभक्तियाँ नहीं हैं। उनका दीवान भी प्रकाशित हो गया है। उनको छंदशास्त्र और साहित्यिक बारीकियों से पूरी जानकारी थी और गद्य लेखों में स्वच्छता और शुद्धता का बहुत ध्यान रखते थे। अंत में नवाब रामपुर के दरबार से उनका संबंध हो गया था। उनकी मृत्यु से प्रसिद्ध उर्दू कवियों में एक स्थान ख़ाली हो गया है।

पंडित रतननाथ 'सरशार'

गत शताब्दी के अंत में पं० रतननाथ 'सरशार' एक बहुत ही योग्य और प्रसिद्ध पुरुष हुए हैं। वह काश्मीरी ब्राह्मण थे, जो १८४६ ई० या १८४७ में लखनऊ में पैदा हुए। केवल चार वर्ष की अवस्था में उनके पिता का देहांत हो गया था। उनके छोटे भाई पं० विशंभरनाथ डिप्टी कलेक्टर थे। 'सरशार' के पुत्र पं० निरंजननाथ दर सरकारी ख़ज़ाने में नौकर थे, लेकिन युवावस्था ही में उनका देहांत हो गया। सरशार अरबी-फ़ारसी भाषाओं के ज्ञाता थे। अँग्रेज़ी उन्होंने कैनिंग कालेज में पढ़ी थी, लेकिन कोई डिग्री प्राप्त नहीं की। पहले वह खीरी के ज़िला स्कूल में टीचर हुए थे और वहीं से 'मरासला काश्मीरी' और 'अवध पंच' में लेख भेजा करते थे। इन लेखों में कोई विशेषता न थी। लेकिन उनसे उनकी भविष्य की पुस्तकों और प्रसिद्धि का पता लगता था। अनुवाद करने में बहुत सिद्धहस्त थे। वह अपना अनुवाद शिक्षा-विभाग के किसी पत्र में भेजा करते थे, जिसका डाइरेक्टर बहुत पसंद करते थे। वह कभी-कभी अपना लेख 'मिरातुल हिन्द' और 'रियाजुल अख़बार' में भी भेजा करते थे। उन्होंने एक अँग्रेज़ी पुस्तक का अनुवाद 'शम्सुल ज़ुहा' के नाम से किया था, जिसमें साइंस

की परिभाषाओं का अनुवाद बहुत ही सरल उर्दू में किया है। उसी वर्ष शिक्षा-विभाग के डाइरेक्टर, डाक्टर ग्रीफ़िथ साहब ने उनका परिचय मुंशी नवल-किशोर से कराया और फलतः वह 'अवध अख़बार' के संपादक हो गए। सरशार ने अपने 'फ़साना आज़ाद' को खंड-खंड करके इसी अख़बार के द्वारा प्रकाशित करना आरंभ किया था जो १८७९ ई० तक प्रकाशित होता रहा और पीछे पुस्तकाकार छप गया। इसी बीच में 'अवध अख़बार' और 'अवध पंच' में वाद-विवाद आरंभ होकर बहुत दिनों तक चलता रहा। 'अवध पंच', 'अवध अख़बार' और उसके संपादक को हास्य रस में खरी-खरी सुनाता रहा और वैसा ही उसका उत्तर भी पाता रहा। पीछे कुछ मित्रों के उद्योग से दोनों में समझौता हो गया। 'सरशार' 'तूती हिन्द' के संपादक, बयान यज़दानी मेरठी और ख्वाजा अलताफ़ हुसैन हाली के साथ भी साहित्यिक वाद-विवाद में सम्मिलित हुए थे।

उनकी रचनाएँ 'सैर कुहसार', 'जामे सरशार', 'कामनी' और 'खुदाई फ़ौजदार' नामक उपन्यास बहुत प्रसिद्ध हैं। पिछला एक विदेशी नाविल 'डोन क्विकज़ोट' का भाषांतर है। १८९३ ई० में उन्होंने एक लेखमाला 'खुमकदा सरशार' के नाम से आरंभ की। उन्हीं दिनों में उनके उपन्यास 'कुड़ मधुम', 'बिछड़ी दुलहिन', 'तूफ़ान बेतमीज़ी', 'पी कहाँ' और 'हुश्शू' नामक प्रकाशित हुए। लेकिन उनमें ओज कम है। कुछ दिनों वह इलाहाबाद के हाई कोर्ट में अनुवादक भी रहे थे, लेकिन दफ्तर के बंधन से ऊब कर यह काम छोड़ दिया। १८९५ ई० में वह हैदराबाद चले गए। वहाँ से उन्होंने एक पत्र भेजा जो, 'कश्मीरी दर्पण' में १८९६ ई० में प्रकाशित हुआ था और जिसका एक भाग पं० ब्रजनारायण ने नक़ल किया है। वह इस प्रकार है:—

'तक़रीबन चार बरस हुए कि मैं मेम्बर कॉंग्रेस की हैसियत से मद्रास आया था। मेरी ख़ुशनसीबी मुझको हैदराबाद लाई, जहाँ हिन्दू, मुसलमान, अमीर, गरीब सब ने निहायत गर्मजोशी से मुझको लिया और मेरे ऊपर बड़ी इनायतें कीं। महाराजा सर किशुनप्रसाद ने अपने कलाम नज़्म-नसर की इसलाह के लिए दो सौ रुपया माहवार मुक़र्रर कर दिया है। इसके अलावा ख़लअत ख़ुशनूदी और फ़ी शेर जो पसंद ख़ातिर होता है एक अशरफ़ी इनायत फ़रमाते हैं। हुज़ूर निज़ाम मुझसे पहले ही से वाक़िफ़ थे। पहले दिन जब मैं हाज़िर

ख़िदमत हुआ तो नज़र गुज़रानी और अपनी कुछ किताबें पेशकश कीं। आला हज़रत ने ज़र्रानिवाज़ी की और एक टुकड़ा दरबार के बयान का मेरे 'सैरकुहसार' से और एक मुक़ाम 'जामे सरशार' से समाअत फ़रमाया। मैंने एक तारीख़ शाहज़ादे की विलाहत मुबारकबाद में बंदगान की ख़िदमत में पेश किया, जिसको आला हज़रत ने बहुत पसंद फ़रमाया। मेरा नाम मुअज़्ज़िज़ दरबारियों में शामिल हो गया है और कोशिश की जा रही है कि मंसब भी मिले। अगर ख़ुदा ने चाहा तो मेरा जदीद नाविल 'गोरे गरीबाँ' एक हफ्ते के अरसे में शाया हो जायगा।"

सरशार कुछ दिनों तक वहाँ 'दबदबा आसफ़िया' के संपादक भी रहे। उनका उपन्यास 'चंचल' उसी पत्र में निकलता था, लेकिन वह पूरा न हुआ। 'गोरे ग़रीबाँ' जिसकी चर्चा उन्होंने ऊपर के पत्र में की है, प्रकाशित न हो सका। 'चंचल' कोई बढ़िया नाविल नहीं है। अंत में सरशार अधिक सुरापान करने लगे। यह १९०२ ई० में हैदराबाद ही में उनकी मृत्यु का कारण हुआ।

'सरशार' बड़े अच्छे कवि भी थे। असीर के शिष्य थे। १८९४ ई० में उन्होंने एक क़सीदा कश्मीरी कान्फ्रेंस में पढ़ा था और एक मसनवी 'तुहफ़ा सरशार' भी लिखी है, जब पंडित बिशनदर के विलायत से लौटने पर बिरादरी में हलचल मच गई थी। यह मसनवी लोगों ने बहुत पसंद की, और इससे वह हलचल किसी अंश में दब गई।

'सरशार' का व्यक्तित्व

'सरशार' बड़े स्वतंत्र स्वभाव के थे। उनकी स्मरणशक्ति तीव्र थी। पक्षपात और धर्मांधता से बिल्कुल रहित थे। बातें बड़े मज़े की किया करते थे। विनोद तो उनमें कूट-कूट कर भरा हुआ था। शराब ने उनके साथ वही किया, जो मुंशी दुर्गासहाय के साथ किया था, अर्थात् एक होनहार जीवन को समाप्त कर दिया। उर्दू उपन्यास को अंग्रेजी ढंग पर लिखने का उनको गर्व था, और इसी के साथ वह एक बड़े पत्रकार, लेखक, उर्दू भाषा के ज्ञाता और एक विशेष शैली के आविष्कारक थे। लेकिन दुख के साथ कहना पड़ता है कि उनकी प्रसिद्धि कुछ तो लोगों के पक्षपात और कुछ उनकी निजी लापरवाही से कम हो गई। उनके 'फ़िसाना आज़ाद' और कुछ अन्य पुस्तकों में जो कहीं-कहीं अलूल-जलूल बातें पाई जाती हैं, उसका कारण अधिकांश उनकी जल्दबाज़ी और लापरवाही

ही है और फिर उस पर सुरापान तो मानों कड़ुई नीम पर करैले के समान था, जो उनके मस्तिष्क को विचलित कर देता था। इन्हीं कारणों से न तो वह कभी अपने लेख का संशोधन करते थे और न प्रूफ़ पढ़ते थे। सदा क़लम उठा कर धड़ाधड़ लिखते चले जाते थे। यदि कभी क़लम न मिलता था तो तिनके से काम निकाल लेते थे। इसी लापरवाही और उतावलेपन से उनके स्थिर किए हुए प्लाट और उनका चरित्र-चित्रण अनेक स्थान पर अस्त-व्यस्त हो गया है। जब कभी कोई उनसे लेख लिखाता तो एक बोतल शराब उनके सामने रख देता था, जिसको चढ़ाकर वह तुरंत लिखने लगते थे। लेकिन इस मानसिक निर्बलता के साथ उनमें आत्मसम्मान और स्वतंत्रता इतनी थी कि उन्होंने कभी किसी अमीर या रईस की चापलूसी नहीं की और न अपनी प्रसिद्धि के लिए दूसरे के आभारी हुए। सच तो यह है कि उन्हें जो ख्याति मिली वह उनकी प्रतिभा और योग्यता के अनुरूप ही थी।

अंत में वह अलबत्ता समय के फेर से हैदराबाद चले गए थे, जिसमें वहाँ निज़ाम की छत्रछाया में रह कर निश्चित जीवन व्यतीत करें, लेकिन दुर्भाग्यवश, सुरापान की पुरानी आदत ने वहाँ भी उनका साथ न छोड़ा और उनकी मृत्यु का कारण हुआ, एक ऐसी अजनबी जगह में, जहाँ उनके लिए कोई रोने-धोने वाला न था।

उनकी कुछ पुस्तकों के नाम पहले दिए जा चुके हैं। जो अधिक प्रसिद्ध हैं, प्रसंगवश फिर यहाँ दिए जाते हैं:—(१) फ़िसाना आज़ाद (२) सैर कुहसार

कृतियाँ

(३) जामे सरशार (४) कामनी (५) ख़ुदाई फ़ौजदार (६) कुड़मधुम (७) बिछड़ी दुलहिन (८) हुश्शू (९) तूफ़ान बे-तमीज़ी (१०) रंगीले सियार (११) शम्सुलज़ुहा (१२) बैलक कृत 'रशिया' का उर्दू अनुवाद (१३) लार्ड डफ़रिन के पत्र 'हायर ऐल्टीच्यूड' का अनुवाद।

जैसा ऊपर कहा गया है 'फ़िसाना आज़ाद' 'अवध अख़बार' के साथ निकलता था। इसके प्रकाशन से उर्दू जगत में हलचल मच गई थी। एक

फ़िसाना आज़ाद

अंक के निकलने पर दूसरे के लिए लोग अधीर रहते थे। इसका प्रकाशन १८७८ ई० से आरंभ हुआ था। पं० बिशननरायन दर ने इसके विषय में इस प्रकार उर्दू में लिखा था:—

"क़िस्से का प्लाट तो बहुत सादा बल्कि हद दर्जा बेमज़ा है। मगर ढाई हज़ार गुंजान सफ़हे पढ़ते जाइये बदमज़ा नहीं हूजिएगा, बल्कि सतर-सतर पर इश्तियाक़ बढ़ता जायगा। महज़ इस वजह से कि इबारत आराई ग़ज़ब की है। तर्ज़ अदा निहायत बेतकल्लुफ़ और आसान, ताज़ा और नेचुरल, तमसीली और वाज़ेह, फिर, उसके साथ जाबजा पुरलुत्फ़ ज़राफ़त, फड़कते हुए फ़िकरे, मज़ेदार शोख़ियाँ, तुर्की ब तुर्की जवाब, हिक़ामत आमेज़ मज़हक़ बातें, जिनको पढ़कर हँसते-हँसते पेट में बल पड़ जायँगे। आज़ाद—अस्ल क़िस्से के हीरो एक दौलतमंद, नौजवान, दुनियादार शख्स, बहुत हसीन और तरहदार, तालीमयाफ्ता, कई ज़बानों से वाक़िफ़, सिपाही पेशा, शायर, आशिक़ मिजाज़, लच्छेदार बातें करनेवाला और हर अच्छी सूरत पर मरनेवाला, एक तरफ़ आला सोसाइटी की ज़ेब ज़ीनत, दूसरी तरफ़ एक भटियारी का आशिक़जाँ बाख्ता, बेगमात को भी ललचाई नज़रों से घूरनेवाला था। इत्तफ़ाकन यह मियां आज़ाद एक हसीन दौलतमंद 'हुस्नआरा' नाम पर लट्टू होते हैं। उससे इश्कबाज़ियाँ करते हैं। आख़िर वह इनके साथ इस शर्त पर अक़्द करने को राज़ी होती है कि पहले वह टर्की जाँय। लश्कर इसलाम में नाम लिखाएँ। रूसियों से नबर्द आज़माई करें। आज़ाद अपनी माशूका के अहकाम की बजा-आवरी खुशी-खुशी करते हैं और बक़ौल शख्से, बँधा खूब मार खाता है, हल हाँकते कोदो फाँकते टर्की जाते हैं। रूसियों से लड़ते हैं और मुजफ्फरों मंसूर वापस आते हैं। अपनी जाँबाज़ों के बदले अपनी माशूक़ा से ईफ़ाय वादा चाहते हैं, और अपने मक़सद में कामयाब होते हैं। अस्ल क़िस्सा और जहाँ तक क़िस्से के प्लाट का तअल्लुक़ है, इससे बदतर और बेमज़ा शायद ही कोई क़िस्सा इन्सानी दिमाग़ से निकला होगा। मगर इसी क़िस्से को रतननाथ दर की ज़बान से सुनिये तो मालूम होता है कि हम एक निगारख़ाना चीन में चले जा रहे हैं, जिसकी दिलकश जीती-जागती तस्वीरें अलफ़ाज़ का जादू, तख़ैयल की कसरत, मनाज़िर की चोंचाली ऐसी है, कि जब इस आईना ख़ाना से गुज़रते हैं तो कुछ यक़ीन कुछ शक करते, एक तिलिस्म कोह हमारी नज़रों के सामने आ जाता है और यह मालूम होता है कि किसी ज़बरदस्त बाज़ीगर ने अपने करतबी डंडे से यह सारा समाँ हमारे सामने खींच दिया है।"

यह आलोचना अक्षर-अक्षर सत्य है। 'फ़िसाना आज़ाद' को प्लाट (कथानक का ढाँचा), चरित्र-चित्रण, कहानी के विकास और रोचकता की दृष्टि से न पढ़ना चाहिए। मूल कहानी को एक खूँटी समझना चाहिए, जिसपर हज़ारों घटनाएँ टंगी हुई हैं और उन्हीं-उन्हीं पृथक् घटनाओं के पढ़ने में आनंद आता है। वह उनका विनोद, वह रोचक चरित्र, वह चुलबुलापन, वह हाज़िर-जवाबी, किताब की जान है। 'फ़िसाना आज़ाद' में डूमा (फ्रांस के प्रसिद्ध उपन्यासकार) के उपन्यासों के सारे गुण कहानी के पात्रों की बातों में हैं, न कि स्वयं कहानी में। 'सरशार' वार्तालाप लिखने में निपुण थे और उन बातों को बड़ी सफलता के साथ दिखलाया है।

'शरसार' का चरित्र-चित्रण

सरशार रजबअली बेग सुरूर की तरह लच्छेदार और तुकबंदी के साथ लिखना पसंद नहीं करते, न वह बुराइयों को छिपाते हैं और न अच्छाइयों को चमकाते हैं, किंतु यथातथ्य चित्र खींच देते हैं। विशेषकर लखनऊ के छोटे बड़े अमीर-ग़रीब सभों के अद्वितीय चित्र खींच दिए हैं। उनके पात्र छाया के समान हमारे सामने नहीं आते, बल्कि वह हम लोगों की तरह मांस और खाल के बने हुए चलते-फिरते, जीते-जागते प्रतीत होते हैं। पं० विशननरायन दर उसके विषय में लिखते हैं :—

"अगर तुम उनके मजमों के अंदर जाओ गुल-गपाड़ेवाले तूफ़ान बेतमीज़ों के मजमे, तो तुमको बड़ी इहतियात से जाना होगा, कहीं ऐसा न हो कि लोगों की धक्का-धक्की से तुम ख़ुद गिर पड़ो और इसकी इहतियात करनी होगी, कि तुम्हारी घड़ी या कोई और चीज़, जो तुम्हारी जेब में है, कहीं निकल न जाय। यही हाल उनके मुहर्रम, चहल्लुम और ऐशबाग़ के मेलों का है कि तुम वहाँ अपने तईं एक अजीब भीड़ में पाते हो, जिसमें बटेरबाज़, पतंगबाज़, अफ़ीमी, ज़र्क़-बर्क़ नवाब मय अपने डेरे-ख़ेमे ज़र्दरू मुसाहबों के, रंडियाँ गाड़ियों में सवार, किसी बुड्ढे फ़ील-सवार तमाशबीन से आँखें लड़ा रही हैं। फ़क़ीर गाड़ियों के पीछे दौड़ते दुआएँ देते जा रहे हैं और अगर कुछ नहीं मिलता है तो चुपके-चुपके सैकड़ों सलवातें सुनाते हैं। फ़ाक़ामस्त आशिक़, रंगीले बेकार, औरतें ख़ूबसूरत-बदसूरत कोई अपने खोए हुए बच्चे को आवाज़ दे रही है, कोई

अपने यार से लड़ रही है, कोई किसी नवाब के मुसाहेब ख़ास से नाज़ो अंदाज़ से बातें कर रही है। पुलिस, कांस्टेबुल, चोर, उचक्के, चुंगी के मुहर्रिर, रेलवे बाबू, ठाकुर साहब किसी क़रीब के गाँव से, मेला देखने आए हैं। लाला भाई किसी तंबोली या तंबोलिन से फ़ारसी लुग़त छाँट रहे हैं। अँग्रेज़नुमा ग्रेजुएट सिगरेट मुह में दबाए, न्यू फ़ैशन के मुसलमान तुर्की टोपी डाले, बंगाली बाबू महीन नर्म धोतियाँ हवा में उड़ाते हुए देख पड़ते हैं। यह है वह मजमा, जिसकी 'सरशार' तुमको सैर कराते हैं, जिसमें हज़ारों मुख्तलिफ़ आवाज़ें तुम्हारे कानों में आ रही हैं और चारों तरफ़ जिंदा चलते-फिरते, बातें करते, ग़ुल मचाते इंसानों का एक समुंदर मौजज़न है और इन सब पर तुर्रा यह कि इस अज़ीमुश्शान मजमा में हर आदमी को उसकी बातचीत और उसके हरकातों-सकनात से तुम बख़ूबी पहचान सकते हो।"

'फ़िसाना आज़ाद' बल्कि 'सरशार' के बहुधा नाविलों की दो विशेषताएँ हैं (१) लखनऊ की उस समय की सोसाइटी के ज्यों का त्यों चित्र खींचना; (२) विनोद और चुलबुलापन। हमारी राय में किसी गद्य या पद्य लेखक ने उसके पहले लखनऊ की अंतिम संस्कृति और समाज के सच्चे चित्र इतने विस्तार के साथ कभी न खींचा होगा। 'सरशार' ने पुरानी चाल के नवाबों, उनकी कृतियाँ तथा उनके मुसाहबों और मित्रों के सच्चे चित्र खींचने में बड़ी कुशलता का परिचय दिया है। यद्यपि वह एक हिन्दू थे, लेकिन आश्चर्य है कि मुसलमानों के बड़े घरानों की भीतरी हालत और बेगमों का रहन-सहन और बोल-चाल के वह ऐसे ज्ञाता थे कि कोई मुसलमान उनसे अधिक नहीं जान सकता। सच पूछिए तो उन्होंने हमारी आँखों के सामने से पर्दा उठा दिया है और हम हिन्दू और मुसलमानों के अंतःपुर की भीतरी बातों को बड़ी सफ़ाई के साथ बेपर्दा देख सकते हैं। विविध पेशेवालों की विशेष परिभाषाएँ, विविध समुदाय की विशेष बोलियाँ और उनके उच्चारण के ढंग, देहाती बोली, बेगमों और उनकी लौंडियों की बातचीत, भठियारे, भठियारी, अफ़ीमी, चंडूबाज़, शराबी, चोर, उचक्कों की भाषा, देहाती ठाकुरों और पढ़े-लिखे लाला भाइयों के बात-चीत का ढंग इत्यादि। इन सब बातों का उनको पूरा ज्ञान था।

सरशार का विनोद बहुत ही सभ्य था। अलबत्ता उनमें ग़ालिब का

ऐसा लालित्य न था और शब्दों के बहाव में वह कभी-कभी इतना बढ़ जाते थे कि उनमें अश्लीलता आ जाती थी, फिर भी उनकी विशेष चीज़ विनोद में कोई उनके बराबर नहीं पहुँचता था। परस्पर बात-चीत के लिखने में वह अत्यंत सिद्धहस्त थे, विशेषकर छोटे दर्जे के आदमियों की बोल-चाल उनके टके-बँधे वाक्य और उनके ज़िला-जुगत को वह ज्यों का त्यों व्यक्त कर देते थे।

'सरशार' का विनोद

'सरशार' चरित्र-चित्रण के उस्ताद थे। वह ज्यों का त्यों चित्र नहीं खींचते बल्कि असलियत के साथ अत्युक्ति से भी काम लेते हैं। इसी सबब से उनके चरित्रों में इंग्लैंड के प्रसिद्ध नावलिस्ट डिकेंस और थैकरे दोनों का रंग पाया जाता है। वह तमाम चरित्रों में जो विशेष बातें होती हैं उनको चुन लेते हैं और उन्हीं में वह कलियाँ पैदा करते हैं, जिनको पढ़कर आदमी हँसते-हँसते लोट जाता है। उनके चरित्रों को इस दृष्टि से न देखो कि वह स्वाभाविक है। बस उनको पढ़ो और हँसो। इतना ही बहुत है।

'सरशार' का और चरित्र-चित्रण

'सरशार' की पुस्तकों को एक विशेषता यह है कि उन्होंने अस्वाभाविक बातों को अपने उपन्यासों में स्थान नहीं दिया। मनुष्य जीवन की साधारण घटनाओं को अत्यंत रोचक बना दिया है। मौलवी नज़ीर अहमद में भी यह बात थी, लेकिन उनमें और 'सरशार' में यह अंतर है कि उनकी कहानियाँ केवल नैतिक हैं, जिनका तात्पर्य यह है कि स्त्रियाँ उनको पढ़कर लाभ उठावें और इसीसे उनमें रोचकता कम है। हमारी राय में 'सरशार' पहले आदमी हैं, जिन्होंने जीवन की साधारण घटनाओं को कहानी के रूप में मनोरंजन के लिए लिखा, जो वर्तमान काल के उपन्यासों का मुख्य उद्देश्य है।

'सरशार की' कहानियों में त्रुटियाँ भी हैं। एक तो उनके कथानक का ढाँचा सुव्यवस्थित नहीं है, जैसे 'फ़िसाना आज़ाद' का। जब वह घटनाओं को क्रमबद्ध करना चाहते हैं तो उसमें सफल नहीं होते। वह तमाम बिखरी हुई घटनाओं को एकत्रित न कर सके और इसीसे कोई नियमबद्ध प्लाट तैयार न कर सके। यही शिथिलता उनके दूसरे नाविलों में है। इसका कारण उनकी लापरवाही मालूम होती है। वह सच्चे कलाकार को तरह

त्रुटियाँ

मिहनत के साथ काम करने से घबड़ाते थे और अख़बार का संपादन और उसके लिए कहानियाँ तैयार करना उनको बोझ हो जाता था। खेद है कि ऐसे प्रतिभाशाली और योग्य आदमी ने अनियम करने और लापरवाही के कारण घबड़ाने से, अपनी कुशलता से पूरा काम नहीं लिया और न उसका आदर किया।

इसी कारण से उनकी घटनाएँ शृंखलाबद्ध नहीं हैं और परिच्छेद अस्त व्यस्त हैं। चरित्रों में समता नहीं है, जो कहानी में सैकड़ों रंग बदलते हैं; और उनकी विशेषताएँ उनके मस्तिष्क में जमने नहीं पाईं। इसीसे वह उनको निबाह नहीं सके। जल्दबाजी के कारण उनकी लेखनी सरपट घोड़े की तरह दौड़ने लगती है। वह लिखने तो बैठ गए, चाहे उनका चित्त एकाग्र हो या न हो, जिसका परिणाम यह होता है कि कल्पना और विचारों में उड़ान की शक्ति न होने से पृथ्वी पर फिसलने लगते हैं।

इसके अतिरिक्त उनमें दार्शनिक और नैतिक विचारों की कमी थी। इसीसे 'फ़िसाना आज़ाद' के अंतिम खंड और हुश्शू के अंतिम परिच्छेद में, जिनमें स्त्री शिक्षा, थियासफ़ी, और सुरापान के निषेध इत्यादि के संबंध में उपदेश हैं, बहुत ही निस्स्वाद और प्रभावहीन हैं। जब वह इस मार्ग में पदार्पण करते हैं, तो फिर वह 'सरशार' नहीं रहते, उनमें भावुकता की भी कमी है। इसी से उनकी पुस्तकों में दर्द और वेदना का अभाव है। उनकी भाव-व्यंजना जहाँ कहीं होती है, बनावटी होती है और इधर-उधर की उक्तियों और पद्य से उसको पूरा करना चाहते हैं।

कहीं-कहीं उनकी पुस्तकों में असंभव बातें भी हैं, जिनसे हमारे शिष्ट भावों को ठेस लगती है। इसका कारण उनकी ओर से यह कहा जा सकता है कि एक तो उस समय का यही रंग था, दूसरे यह कि बुराइयों को जब तक नग्न करके दिखलाया न जाय लोगों पर उसका प्रभाव नहीं पड़ता। फिर उनकी कहानियों में पात्रों के चरित्र इतने अधिक हैं कि उनके चित्र घिच-पिच हो गये हैं। ऐसी ही घटनाओं का इतना बाहुल्य है कि उनका अनुपात स्थिर नहीं हो सका और पढ़नेवाले उलझन में पड़ जाते हैं। लेकिन यह त्रुटियाँ उस महान् सेवा के सामने कुछ नहीं हैं जो उन्होंने उर्दू साहित्य के प्रति की है। अतः त्रुटियों को अधिक ध्यान न देना चाहिए।

'सरशार' का पद एक भाषाविज्ञ और एक विशेष शैली के जन्मदाता होने की दृष्टि से बहुत ऊँचा है। स्वच्छ, सरल, मुहावरेदार और ओजस्वी लिखने में वह अपने समकालीन लेखकों से बढ़े हुए थे; और एक विशेष-शैली के आविष्कारक होने में चाहे, आज़ाद से वह दूसरे नम्बर पर हों, लेकिन और सबसे बढ़े हुए थे। उन्होंने एक ऐसा ढंग ग्रहण किया था, जो कहानियों के लिये बहुत ही उचित था। उनकी पुस्तकों से लोग कथानक से नहीं बल्कि उसकी लेखन शैली से आनन्द उठाते हैं। यद्यपि कुछ लोगों ने उनकी भाषा और मुहावरों पर आक्षेप किये हैं, लेकिन वह अन्याय, ईर्ष्या और पक्षपात पर अवलंबित हैं। भाषा में वह अवश्य बे-रोक-टोक थे और कभी अनावश्यक मुहावरे और परिभाषाएँ लिखी हैं, पर इसका कारण उनके विचारों का बाहुल्य और भाषा पर अधिकार कहा जा सकता है।

'सरशार' की विशेष-शैली

मिर्ज़ा रजबअली बेग के यहाँ बाहरी बनावटी बातें अधिक हैं। 'सरशार' का लेख स्पष्ट और स्वाभाविक होता है। 'सुरूर' चीज़ों का वर्णन करते हैं और 'सरशार' आदमियों का। 'सुरूर' कल्पित चित्र खींच-कर उनके गुणों को प्रदर्शित करते हैं और उनकी त्रुटियों को छिपाते हैं। विपरीत इसके 'सरशार' के चित्र सच्चे और यथातथ्य हैं; और गुण और दोष दोनों को निस्संकोच प्रकट कर देते हैं। 'सुरूर' के यहाँ ऐसा मालूम होता है कि हम एक बाग़ में खड़े हुए हैं। उसके बीचो-बीच में एक नहर बह रही है, जिसमें निर्मल जल मोती के सदृश बहता है और उसके किनारे गुलाब के फूल महक रहे हैं। 'सरशार' हम को एक बड़ी नदी के पास खड़ा कर देते हैं, जो हवा के वेग से तरंगित हो रही है। उसके पास के जंगल से सन्नाटे के कारण साँय-साँय का शब्द सुनाई पड़ता है। कभी-कभी नदी के जल पर कोई गंदी चीज़ भी बहती जा रही है। 'सुरूर' के चित्र इसलिए रोचक और सुन्दर हैं कि वह उन चीज़ों से जिनका वर्णन करते हैं, स्वयं बहुत प्रेम रखते हैं; और उनमें कोई त्रुटि नहीं देखते। विपरीत इसके 'सरशार' जिस समाज का चित्र खीचते हैं, उसको पसंद नहीं करते, बल्कि कहीं-कहीं तो उससे घृणा करते हैं और इस घृणा को वह छिपाते नहीं। इसलिए कहा जा सकता है कि 'सुरूर' परिवर्तन-विरोधी थे और पुराने समय से उनका

'सरशार' और 'सुरूर' की तुलना

संबंध था; और सरशार इस बात के पक्ष में थे कि ललित कलाओं को पुराने ढर्रे से मुक्त करके स्वाभाविक किया जाय और इसी से उनका संबंध वर्तमान और भविष्य काल दोनों से था।

इस प्रसंग के अंत में हम मुंशी सज्जाद हुसैन, 'अवध पंच' के संपादक और पं० रतननाथ सरशार के लेख के नमूने दिखाते हैं, जिससे दोनों की अभि-रुचि का ज्ञान होगा। अतः सज्जाद हुसैन के प्रसिद्ध उपन्यास 'हाजी बग़लोल' से वह अंश लिया जाता है, जहाँ हाजी साहब अपनी प्रेमिका कंडेवाली को याद करके उसके ध्यान से अपने मन ही मन में बातें करते हैं; और 'फ़िसाना-आज़ाद' के चौथे खंड से उसी के लगभग वह लेख नक़ल किया जाता है, जिस में ख़ूजी बंबई पहुँचने से कुछ पहले जहाज़ पर अपनी प्रेमिका शिताब जान दरजिन से मिलने के लिए बेचैन हो रहे हैं और इसी के संबंध में आज़ाद से बातें हो रही हैं।

(१) "नाज़रीन जरा इस वक्त तनहाई में हाजी साहब कराह रहे हैं। कान लगा कर सुनिए तो क्या कह रहे हैं मगर देखिए दूर ही रहिए। नज़दीक गए और सारा खेल बिगड़ गया। आप कह रहे हैं:—

"ऐ नेकबख्त अफ़सोस तुझको ख़बर नहीं कि कोई हाजी जान देता है। यों दम तोड़ता है। आप तो खेती-बारी में जी बहलाती होंगी, या घर के चक्की-चूल्हे में पड़ी होंगी (ऐ तोबा मसरूफ़ होंगी) या उपलियाँ प्यारी-प्यारी बनाती होंगी। मगर यहाँ सूख-सूख कर इश्क़ की धूप में हम कंडा हुए जाते हैं। तुमको क्या नाम कि जानना चाहिए हम भिनवा कंडे हैं, जिसकी आँच ऐसी तेज़ होती है कि पताल-जंत्र में अर्क और तेल उसी से निकलता है। कीमिया के नुसख़े उसी से तैयार होते हैं। हाय अफ़सोस! क्या नाम कि हुज़ूर की मुहब्बत में कैसे-कैसे मख़मसे उठाए। लोगों का अरहर के खेत में ले जाना, घोड़ी पर से गिरना, अमलख्वानी में कड़ी सहना। मगर हाजी का इश्क़ सादिक़ है, जो तसलीमो रज़ा की सिपर लगाए सब चोटें खाता है, वर्ना क्या नाम की मजाल थी किसी की उँगली तो दिखाए, मारे जरीबों के सुथराव कर दिया होता। मगर नहीं आशिक़ी के ज़ाबते के खिलाफ़ यह बात थी। जिस गाँव को तुम अपने जलवे से रश्क अरम बनाओ वहाँ का गदहा और सुअर,

बुराक़ और दुंबा है; और आदमी तो हमारे आँख में हूर और ग़िलमान हैं। दमभर को कोई ससुराल जाता है, चौथी खेली जाती है। भला कोई मर्द आज इस मैदान में, जो इश्क़बाजी में आप के हाजी का मुक़ाबला कर सके। हाय मैं आज को कौआ होता और जहाँ तुम होतीं वहाँ बैठ के काँव-काँव की सदा सुनाता। तुम हांकने उठतीं और हम तुम्हारे सिर पर आ बैठते। हाय तमन्ना है कि हम तुम्हारे गाय-भैंस होते और क्या नाम कि तुम हमारे गले में रस्सी बाँध कर चराने ले जातीं। पुट्ठों पर तुम्हारे नाज़ुक हाथ फिरते। तुम दूध दुहती होती और हम तुम को चाटते होते। क्या नाम कि अगर कहो तो बंबई चलें। अब तो हम तुम्हारे आशिक़ों में हो गए। सब पर भेद खुल गया।

मरे दिल के मोंढे पे बैठो सनम तुम।
तने ज़ार घट कर ठटेरा हुआ है॥

आह यह कमर का दर्द तुम्हारे इश्क की चोट है, जो सारे जिस्मों जान में फैली हुई है। हाय! सीने में अलाव लगा हुआ है। भुस की आग की तरह अंदर ही अंदर सुलग रहा है।" ('हाजी बग़लोल' से)

(२) "इतने में मल्लाहों ने कहा, अब बंबई सामने से नज़र आती है। सुनते ही ख़ूजी की बाँछें खिल गईं। चिल्ला कर कहा। यारो ज़रा देखना बी शिताब जान साहब की फ़िनस तो नहीं आई है। करमबख्श नामी महरी साथ होगी। अतलस का छटका है और कहारों की पगड़ियाँ वर्दी रंगी हुई हैं। मछलियाँ ज़रूर लटक रही होंगी। बी शिताब जान होत्त। ऐ शिताब जान साहब! आज़ाद पाशा, आवाज़ आई। अरे यार आवाज़ आई हो तो ख़ुदा वास्ता बता दो। बी शिताब जान। ऐ करमबख्श महरी। महरी क्या बहरी है।

लोगों ने आकर समझाया कि साहब अभी बंदरगाह तो आने दीजिए। बी शिताब जान और करमबख्श यहाँ से क्योंकर सुन लेंगी। कहा अजी हटो भी, तुम क्या जानो। कभी किसी पर दिल आया हो तो समझो। अरे नादान इश्क़ के कान दो कोस तक की ख़बर लाते हैं और कौन कोस, कड़ी मंज़िल के कोस। क्या शिताब जान ने आवाज़ न सुनी होगी। वाह भला कोई बात है। मगर जवाब क्यों न दिया। यह पूछो इसमें एक लिम है। पूछो वह क्या? वह यह कि 'माशूक़पन नहीं अगर इतनी कजी न हो' अगर आवाज़ के साथ ही

आवाज़ का जवाब दें तो बंदे की नज़रों से गिर जाँयें। मज़ा जब है कि जब हम बौखलाए हुए इधर-उधर ढूँढ़ते और आवाजें देते हों कि बी शिताबजान साहब, अजी बी साहब और वह बेख़बरी में पीछे से एक धौल जमाएँ और तुनक कर कहें मुँडीकाटा, आँखों का अंधा नाम नैनसुख .गुल मचाता फिरता है। शिताबजान, शिताबजान, ऐ बी साहब तेरी बी को क्या कहूँ। मुई चर्ख़ा कात रही होगी और हम धौल खाकर कहें कि देखिए सरकार अब की धौल लगाई तो ख़ैर, जो अब धौल लगाई न, तो बात बिगड़ जायगी। बस कह दिया है और वह झल्लाकर एक और जमाएँ कि ईंजानिब को टोपी घूरे पर जा गिरे; और साथ ही इस घुटी हुई खोपड़ी पर तड़ातड़ दो चार और जमाएँ तब हँस कर कहूँ जानमन ख़ुदा गवाह है इस वक़्त पेट भरा है वरना मारे भूख के आँत क़ुलहुल्लाह पढ़ रही थीं। सफ़र और परदेश में ऐसी चाँद तारा, महपारा कहाँ मिलती, जो बेधड़क धौल पर धौल जमाती और अभी क्या है, प्यारी अभी तहेदिल होकर बैठें तो फिर दो एक जूते ज़रूर लगाना। हां बे पापोशकारी के तबीयत बेचैन रहती है।"

('फ़िसाना आज़ाद' से)

दूसरे महत्वपूर्ण व्यक्ति जिन्होंने उर्दू उपन्यास के प्रचार और उन्नति में बड़ी सहायता की, मौलवी अब्दुल हलीम शरर थे। उन्होंने सबसे पहले उर्दू में नाविल लिखे। कहानी के प्लाट और चरित्र-चित्रण की उन्नति पर ध्यान दिया और अपनी लेखन-शैली से सिद्ध कर दिया कि स्वच्छ और स्पष्ट भाव ही नाविल लिखने के लिए उचित है। उन्होंने उपन्यास को असभ्य शब्दों और असभ्य विषय से रहित किया और अपनी विशाल जानकारी से वह सामग्री एकत्रित की, जो उनकी पुस्तकों के लिए उपयोगी हुई। वह केवल उपन्यास-लेखक ही न थे, किंतु नाटककार, साहित्यिक, और एक बड़े पत्रकार भी थे।

मौलवी अब्दुल हलीम 'शरर'

१८५७ ई० के ग़दर तीन वर्ष पीछे १२७६ हिजरी में उनका लखनऊ में जन्म हुआ। उनके नाना का अवध के दरबार में बड़ा मान था। अतः वहाँ के बादशाही परिवार के साथ वह इंग्लैंड गए। वहाँ से लौट कर कलकत्ते के मटिया बुर्ज में ठहरे। उनके पिता भी वहीं पहुँचे, जिनका नाम हकीम

तफ़ज्ज़ुल हुसैन था। वह अरबी-फ़ारसी के बड़े विद्वान् थे तथा एक अच्छे हकीम भी थे। 'शरर' नौ वर्ष की अवस्था में कलकत्ते गये थे। उसी समय से उनकी शिक्षा आरंभ हुई। उसके पहले कुछ शिक्षा लखनऊ में हुई थी।

'शरर' ने मटियाबुर्ज में अरबी-फ़ारसी की प्रारंभिक पुस्तकें अपने पिता से पढ़ीं। फिर मौलवी सैयद अली हैदर और मौलवी महम्मद हैदर और मिर्ज़ा महम्मद अली से साहित्य और तर्क की पुस्तकें पढ़ीं और महम्मद मसीह से कुछ तिब (हकीमी) की पुस्तका का अध्ययन किया। कुछ अँग्रेज़ी भी निजी तौर पर पढ़ी पर बहुत कम। उसी समय से उनको समाचार पत्र की ओर रुचि हो गई थी। 'अवध-अख़बार' में ख़बरें भेजा करते थे, उन्नीस वर्ष की अवस्था में वह कलकत्ते से आकर लखनऊ रहने लगे। यहाँ के मौलवी महम्मद अब्दुल हई से अरबी की पाठ्य पुस्तकें पढ़ीं। इसके बाद उनकी ममेरी बहन से उनका ब्याह हो गया। फिर हदीस पढ़ने के लिए दिल्ली गए और वहाँ मौलवी महम्मद नज़ीर हुसैन से हदीस की शिक्षा समाप्त की। अब उनको अँग्रेज़ी जानने की इच्छा हुई। अतः उन्होंने निजी तौर पर बहुत परिश्रम करके अँग्रेज़ी में भी आवश्यक योग्यता प्राप्त की।

उन्हीं दिनों मुंशी अहमद अली कसमंडवी से उनका संपर्क हुआ, जो कुछ समाचार पत्रों, विशेषतया 'अवध पंच' में लेख भेजा करते थे। उन्हीं की प्रेरणा से 'शरर' भी समाचार पत्रों में लेख भेजने लगे। १८८० ई० में मुंशी नवलकिशोर ने उनको 'अवध अख़बार' के संपादक विभाग में ले लिया। उस में उन्होंने ऊँचे विचारों के साथ दार्शनिक और साहित्यिक लेख लिखना आरंभ किया, जिससे उनकी ख्याति चारों ओर फैल गई, यहाँ तक कि हैदराबाद तथा अन्य छोटी-छोटी रियासतों से उनका बुलावा हुआ, पर वह कहीं नहीं गए। सर सैयद अहमद खाँ से उनका परिचय न था। लेकिन उन्होंने 'शरर' के रूह (आत्मा) शीर्षक वाले लेख को इतना पसंद किया कि 'शरर' से मुंशी नवल-किशोर द्वारा उसका कुछ सार लेने के लिए आज्ञा माँगी।

उन्हीं दिनों 'शरर' ने अपने एक मित्र मौलवी अब्दुल बासित के नाम से एक साप्ताहिक पत्र 'महशर' के नाम से निकाला, जिसका लेख इतना हृदयग्राही था कि चारों ओर धूम मच गई। उसके अठारह-उन्नीस अंकों में प्रातःकाल का

दृश्य इतना सुन्दर दिखलाया था कि लोग पढ़कर चकित हो गये थे। उसमें फ़ारसी के रूपक और अलंकार न थे, लेकिन संगठन अँग्रेज़ी ढंग का था। इसी लिए उसके वाक्यों में तुकबंदी और शब्दों की भूलभुलैया न थी। उन्होंने गद्य के बीच-बीच में पद्य के रखने का रिवाज भी छोड़ दिया। आरंभ में इस शैली के निबाहने में लेख में कहीं-कहीं उलझन पैदा हो जाती थी, जिसका कारण यह था कि उर्दू के गद्य में अँग्रेज़ी की तरह विराम और अर्धविराम इत्यादि के चिह्न नहीं होते, दूसरे यह उनका ढंग अभी परिपक्व नहीं हुआ था। लेकिन थोड़े दिनों में वह ऐसा संभल गया कि वह उनकी विशेष शैली बन गई और वह लोकप्रिय हो गई।

खेद है कि 'सरशार' के वह लेख जो उस समय 'अवध अख़बार' और 'महशर' में प्रकाशित हुए थे, किसी ने नहीं छापे और न अब कहीं मिलते हैं, नहीं तो अब उनका अधिक आदर होता। १८८२ ई० में नवलकिशोर प्रेस से उनका सम्बन्ध टूट गया, जिसका कारण यह था कि 'अवध अख़बार' के वह संवाददाता होकर हैदराबाद भेजे गए थे, लेकिन वहाँ केवल छः महीने रहकर बिना प्रेस की आज्ञा के लौट आए थे।

उन्हीं दिनों में उन्होंने अपना पहला उपन्यास 'दिलचस्प' के नाम से लिखा और उसमें समय और घटनाओं का ऐसा दृश्य दिखलाया कि उर्दू में वह एक अनोखी चीज़ थी। लेकिन उनकी लेखन-शैली कुछ उलझी हुई थी। वह एक सामाजिक उपन्यास है, जिसमें शृंगार-रस के साथ यह दिखलाया है कि हिंदुस्तानी परिवार किन कारणों से तबाह हो जाते हैं। एक वर्ष के पश्चात् उसका दूसरा भाग प्रकाशित हुआ, जो पहले भाग की लेखन-शैली की त्रुटियों से रहित है।

उसके दो वर्ष के पश्चात् 'शरर' ने बंकिम बाबू की 'दुर्गेशनंदिनी' को उसके अँग्रेज़ी अनुवाद से उर्दू में भाषांतर किया। फिर 'अलबशीर' के संपादक मौलवी बशीरुद्दीन और 'पयामयार' के संपादक मुंशी निसार हुसैन की प्रेरणा से १८८७ ई० में उन्होंने 'दिलगुदाज़' के नाम से एक मासिक पत्र निकाला जिसका बहुत आदर हुआ, क्योंकि उसमें ऐसे विशेष ढंग के लेख प्रकाशित होते थे, जिसके नमूने केवल अँग्रेज़ी साहित्य में मिल सकते थे। शिक्षा-विभाग की

पाठ्य पुस्तकों में भी 'शरर' के कुछ न कुछ लेख रहा करते हैं। १८८८ ई० से 'शरर' ने 'दिलगुदाज़' में अपने, नाविलों को प्रकाशित करना आरंभ किया। जिनके नाम 'मल्किकुल अज़ीज़ व रजना', 'हसन इंजलीना' और 'मंसूर-मोहना' इत्यादि हैं। ये ऐतिहासिक उपन्यास हैं, जिनके बीसों संस्करण प्रकाशित हो गए हैं। उन्होंने इसलामी इतिहास का अधिक परिशीलन किया था। उनके अंतिम नाविलों में एक का नाम 'ऐयाम-अरब' है, जिसमें उन्होंने वहाँ के अंधकारयुग का चित्र खींचा है। 'फ़लोरा फलोरंडा' और 'फ़तेह उंदलुस' में स्पेन में मुसलमानों के राज्य-काल का रोचक वर्णन है। 'फ़िरदोस बरी' में ईरान का प्लाट है।

१८९० ई० में उन्होंने 'मुहज़्ज़ब' के नाम से एक अख़बार जारी किया, जिसमें इसलामी विद्वानों का जीवन चरित्र हुआ करता था। यह मुसलमानों में बहुत लोकप्रिय हुआ। १८९१ ई० में उन्होंने 'दिलगुदाज़' और 'मुहज़्ज़ब' दोनों बन्द करके हैदराबाद की यात्रा की। वहाँ रियासत से उनको दो सौ रुपया मिलने लगा। वहाँ से १८९५ ई० में वह नवाब विक़ारुल उमरा के लड़के वलीउद्दीन खां के साथ धर्मशिक्षा देने के लिए इंगलैंड गये जो वहाँ ईटन कालेज में पढ़ने गए थे। वहाँ उन्होंने फ्रेंच भाषा सीखी। १८९६ ई० में वहाँ से लौट आए। १८९८ ई० में उन्होंने हैदराबाद से फिर 'दिलगुदाज़' जारी किया, लेकिन ग्यारह महीने बाद बंद कर दिया, जिसका कारण यह था कि उसमें इमाम हुसैन की लड़की सकीना की जीवनी लिखते थे, जिसमें कुछ बातें शियों के विरुद्ध थीं। अतः वहाँ के कुछ उच्च-अधिकारियों की आज्ञा से उन्होंने अपना पत्र ही बन्द कर दिया। १९०० ई० में लखनऊ में आकर फिर 'दिलगुदाज़' जारी किया, जिसमें उसी जीवनी को उन्होंने पूरा किया।

१९०१ ई० में वह फिर हैदराबाद बुलाये गए। लेकिन इस बार वहाँ के वातावरण में कुछ ऐसा परिवर्तन हुआ कि वह फिर १९०४ ई० में लखनऊ लौट आए और अपना पत्र 'दिलगुदाज़' निकालने लगे।

'शरर' की लेखन-शैली का यदि गंभीरता के साथ अध्ययन किया जाय तो पता चलता है कि उर्दू में उन्होंने क्या चीज़ पैदा की है। उर्दू के पुराने नमूने दो प्रकार के थे। एक तो मीर अम्मन देहलवी की सादी उर्दू, दूसरी रजब अली बेग़ सुरूर की फ़ारसी मिश्रित अलंकृत उर्दू। उसके पश्चात् जिन लोगों ने उस

में परिवर्तन किया वह सर सैयद अहमद खां, मौलवी महम्मद हुसैन 'आज़ाद,' मौलाना नज़ीर अहमद, पं० रतननाथ 'सरशार' और मौलाना 'शरर' थे। सर सैयद ने ऐसी सादी उर्दू लिखी जो कभी मौलाना शाह इस्माईल ने लिखी थी अर्थात् प्रत्येक विषय को इस प्रकार से व्यक्त किया कि सर्वसाधारण उसको समझ जायँ। मौलवी मुहम्मद हुसैन की भाषा में प्रगति और प्रवाह के साथ कवित्व, रूपक और अलंकारों का समावेश भी उचित मात्रा में होता था। मौलवी नज़ीर अहमद केवल भाषा में प्रवाह और गति चाहते थे। और उसमें इतना बढ़ गए थे कि जब भाषा को गंभीर बनाना चाहते थे तो सिवा इसके कि अरबी या अँग्रेज़ी वाक्य या शब्द लाएँ और उनका कुछ बस नहीं चलता था। वाक्यविन्यास भी वही रहता था। पं० रतननाथ में कोई नवीनता न थी। केवल विनोद और हास्यरस उनमें बढा हुआ था। उनके लेख दो प्रकार के होते थे। एक तो यह कि जहाँ वह कोई समाँ दिखलाना चाहते थे, वहाँ उनके और 'सुरूर' के लेखों में कोई अंतर नहीं होता था। वही तुकबंदी, वही अत्युक्ति, वही पुराने रूपक और अलंकार, वही पुराने फ़ारसी शब्द और अनावश्यक पद्यों का बीच-बीच में समावेश। दूसरे प्रकार के वह लेख जहाँ वह स्त्रियों के मुँह से उनके विचार प्रकट करते थे, उसमें सिवा कुछ शिथिलता के वह लखनऊ की ज़नानी भाषा बहुत अच्छी लिखते थे। सारांश यह कि उनकी भाषा में कोई नवीनता न थी सिवा इसके कि उन्होंने अस्वाभाविक बातों को छोड़ दिया था। इसके अतिरिक्त उनकी और पुरानी लेखन-शैली में कोई अंतर न था।

'शरर' ने इन सबसे पृथक् होकर अंग्रेज़ी साहित्य के सुंदर वाक्य-संगठन को उर्दू में प्रविष्ट किया, लेकिन रूपक और अलंकार वही पुराने एशियाई रक्खे। उन्होंने कल्पित विषयों को लेकर बिल्कुल अंग्रेज़ी महारथी लेखकों के समान उनमें नए-नए विचार उत्पन्न किए और उनको बड़ी कुशलता के साथ उर्दू में खपाया। उर्दू जाननेवालों के लिए यह एक नई शैली थी और अंग्रेज़ी जाननेवालों को वह चीज़ मिल गई, जिसको वह ढूँढ़ रहे थे और उर्दू पढ़नेवालों को जब उसकी चाट पड़ गई तो उनके लिए उससे उत्तम और कोई शैली न मिली।

'सरशार' का ढंग उनके कुछ आरंभ के नाविलों में रह गया और वह भी जिनमें प्लाट नहीं है। विपरीत इसके 'शरर' का ढंग अधिकांश उनके लेखों में है, जो अनुपम हैं और जिनके सामने किसी को लेखनी उठाने की हिम्मत न हुई। वस्तुतः 'शरर' ही ने वह भाषा आरंभ की, जिससे सब सहमत हैं कि वही नवीन उर्दू है, और उसीका इस समय देश के साहित्य पर अधिकार है। कवित्व की दृष्टि से वह कविता के रंग में सराबोर है। वह जिस चीज़ का चित्र खींचते हैं उसको स्काट की तरह दर्शकों के सामने खड़ा कर देते हैं। मानवी मनोभावों को इस प्रकार से व्यक्त करते हैं कि जिस प्रकार के भाव चाहते हैं, अपने उपन्यास पढ़नेवालों के हृदय में उत्पन्न कर देते हैं। अपनी प्रतिभा का वेग दिखाने के लिए उन्होंने ऐसे-ऐसे विषय लिए, जिनपर उनसे पहले किसी ने लेखनी नहीं उठाई थी, जैसे 'ग़रीब का चिराग़', 'सोहबत बरहम', 'नहीं', 'हाँ', 'लालाखुदरो', 'यादे रफ्तगान', 'देहात की लड़की', 'और 'ख्वाबदोशी' इत्यादि नामक लेख। ऐसे लेखों को उर्दू में पहले पहल उन्होंने लिखा और सच तो यह है कि आज तक उनसे उत्तम और कोई नहीं लिख सका। सचमुच 'शरर' उर्दू साहित्य के जगत् में एक सिद्धहस्त चित्रकार थे और मनोभावों पर तो उनका पूरा अधिकार था। ऐतिहासिक रुचि बढ़ने के कारण 'शरर' उपन्यास लेखक से इतिहासकार बन गए थे। उन्होंने 'दिलगुदाज़' में जो ऐतिहासिक लेख लिखे हैं, उनसे लोगों की जानकारी बहुत बढ़ गई। उनके दो इतिहास बड़े महत्व के हैं। एक 'तारीख़ सिंध' जिसमें मुसलमानी काल को जनता के विचार के विरुद्ध कुछ और ही सिद्धकर दिया है। उसके लिए उनको अरबी और अंग्रेज़ी के अनेक इतिहासों के पन्ने लौटने पड़े थे। दूसरी 'तारीख़-अर्ज़ मुक़द्दस' जिसमें यहूदियों के आरंभिक समय से मुहम्मद साहब की मृत्यु तक का वृत्तांत बड़ी छान-बीन के साथ लिखा है।

'शरर' प्रचलित रस्मोरिवाज के विरुद्ध रहते थे और उनकी जाँच-पड़ताल की धुन थी। वह परम्परा के अनुकरण से दूर थे और मुसलमानों के वहाबी संप्रदाय के सिद्धांतो की ओर उनका झुकाव था, यद्यपि कुछ बातों में अपने अनुसंधान के अनुसार उनसे पृथक भी हो जाते थे। सारांश यह कि स्वतंत्रता का विचार उनका बहुत प्रबल था। जिस चीज़ को वह सत्य समझ लेते थे

उसको खुले तौर पर वह अंगीकार करने में डरते न थे। इसी कारण बहुत से मुसलमान उनके विचारों के विरुद्ध थे। पहली बात यह थी कि उन्होंने प्रामाणिक इतिहासों से यह प्रकाशित कर दिया था कि इमाम हुसैन की मृत्यु के पश्चात् उनकी विधवा शहरबानू का पुनर्विवाह, उनके लड़के इमाम ज़ैनुलआब्दीन ने अपने ग़ुलाम ज़ुबेद से कर दिया था। दूसरी बात वही इमाम हुसैन की लड़की सकीना की जीवनी थी। लेकिन सबसे अधिक विरोध उस समय हुआ, जब उन्होंने १६०० ई० में 'परदा असमत' के नाम से एक पत्रिका लखनऊ से प्रकाशित की, जिसका उद्देश्य यह था कि मुसलमानों से परदे का रिवाज उठा दिया जाय। उनका कहना था कि परदा इसलाम में एक सभ्य आवरण का नाम है, न कि घर की चारदीवारी में बंद कर देने का। यह पत्रिका एक वर्ष तक निकलती रही। हर जगह विरोध फैला, लेकिन उसने अपना काम पूरा कर दिया। अब बहुत से मुसलमान उसके पक्ष में हैं और परदा तोड़ने का उद्योग कर रहे हैं।

अप्रैल १६०४ ई० में उन्होंने एक पाक्षिक पत्र 'इत्तिहाद' के नाम से जारी किया, जिसका उद्देश्य था हिंदू-मुसलमानों का मेल।

१६१२ ई० में मौलाना महम्मदअली ने 'शरर' को अपने पत्र 'हमदर्द' के संपादन के लिए दो सौ रुपया महीने पर बुलाया था, लेकिन वह कुछ कारणों से दिल्ली में कुछ महीने रह कर उक्त पत्र निकलने से पहले लौट आए। १६१८ ई० में निज़ाम हैदराबाद ने 'शरर' को बुलाकर अपनी जीवनी लिखने का आदेश दिया था। लेकिन फिर यह विचार स्थगित हो गया और उसकी जगह 'शरर' को तारीख़ इसलाम लिखने के लिए नियुक्त किया, जिसके लिए एक अच्छी रक़म घर बैठे लखनऊ में मिलती थी। यह पुस्तक तीन जिल्दों में समाप्त हुई, जिसकी पहली जिल्द प्रकाशित हो गई है और उसमानिया यूनीवर्सिटी में पढ़ाई जाती है। 'शरर' ने छोटी-बड़ी इतनी पुस्तकें लिखी हैं कि उनके समय में कोई उनसे अधिक नहीं लिख सका। उनकी पत्र-पत्रिकाओं के नाम नीचे दिए जाते हैं :—(१) 'महशर' (साप्ताहिक), (२) 'दिलगुदाज़' (मासिक), (३) 'मुहज़्ज़ब' (साप्ताहिक), (४) 'परदा असमत' (पाक्षिक), (५) 'इत्तहाद' (पाक्षिक), (६) 'अल अरफ़ान' (मासिक), (७) 'दिल अफ़रोज़'

मासिक), (८) 'ज़रीफ़' (साप्ताहिक), (६) 'मोअरर्ख़' (मासिक)।

उनकी कृतियां यह हैं :—

जीवन चरित्र २१; उपन्यास ४२; इतिहास १५; पद्य ६; स्फुट १८; कुल १०२। 'शरर' के लेख जो 'दिलगुदाज़' में छपे हैं, उनको सैयद मुबारक अलीशाह पुस्तक-विक्रेता लाहौर ने आठ जिल्दों में 'मजामीन शरर' के नाम से प्रकाशित किया है, जो बहुत ही रोचक और पठनीय हैं।

मिर्ज़ा महम्मद हादी रुसवा

मिर्ज़ा महम्मद हादी बी० ए०, पी-एच० डी० उपनाम 'रुसवा' मिर्ज़ा औज के कविता में शिष्य हैं। युवावस्था में वह ग़ालिब की शैली को अधिक पसंद करते थे, लेकिन अब ग़ालिब के सूक्ष्म विचार उनको अधिक प्रिय नहीं हैं, बल्कि उनकी रचना बहुत स्वच्छ और सादी होती है। इसलिए वह मोमिन के अनुयायी कहे जा सकते हैं। उनका लिखा हुआ प्रसिद्ध उपन्यास 'उमराव जान अदा' है, जिसको लिखे हुए पचीस-तीस वर्ष हुए। यह बहुत ही ऊँचे दर्जे का उपन्यास और इसकी लेखन-शैली बड़ी उत्तम है। इसका सबसे बड़ा गुण यह है कि इसका प्लाट बहुत ही सुसंगठित है और इसके पात्रों का चरित्र बहुत ही स्पष्ट है। हमने किसी नाविल में इतनी अधिक घटनाएँ और मनोभावों का इतना सच्चा चित्र नहीं देखा। इसमें उस समय के रहन-सहन और सोसाइटी की यथातथ्य रूपरेखा दिखलाई गई है, जिसमें किसी प्रकार की अत्युक्ति नहीं है। उनकी अन्य रचनाएँ मसनवी 'नवबहार', 'सुबहउम्मीद', 'मुरक्क़ा लैलामजनूँ' (नाटक) और 'ज़ातेशरीफ़' उपन्यास इत्यादि हैं। इस समय वह उस्मानिया यूनीवर्सिटी के दारुल तर्जुमा' में काम करते हैं।

हकीम महम्मद अली

हकीम महम्मद अली उपनाम 'तबीबे', जिनका अभी थोड़े दिन हुआ देहांत हो गया है, एक प्रसिद्ध उपन्यासकार थे। इनके नाविल 'इबरत', 'हुस्न सुरुर', 'देवलदेवी', 'गौरा', 'रामप्यारी', 'जाफ़र अब्बासा', 'अख्तर व हसीना' इत्यादि हैं। इनके सिवा कुछ अँग्रेज़ी नाविलों के अनुवाद हैं। जैसे 'नील का साँप' जो हैगार्ड के 'क्लिओपैट्रा' का भाषांतर है और 'जाफ़र-अब्बासा' तथा 'देवलदेवी' ऐतिहासिक उपन्यास हैं। हकीम साहब यद्यपि अपने समय में प्रतिष्ठित थे, लेकिन उच्चकोटि

के उपन्यासकार नहीं कहे जा सकते, इसलिए कि वह समय की गति से अनभिज्ञ थे, जिसका वह चित्र नहीं खींच सकते थे, न उस समय की सोसाइटी की बातों को जानते थे। मनुष्य के सूक्ष्म भावनाओं के भी वह जानकार न थे। लेख एक ही ढंग का है। उपदेश का अधिक समावेश है और इन्हीं कारणों से उनकी पुस्तकें प्रभावहीन हैं और उनमें रोचकता नहीं है।

राशिदुल ख़ैरी

यह मौलाना नज़ीर अहमद के सच्चे स्थानापन्न कहे जा सकते हैं। उनका ध्यान अधिकांश स्त्रियों की शिक्षा, उनकी उन्नति और उनके जीवन के कष्ट की ओर है। उनकी लेखन-शैली बहुत ही वेदनापूर्ण और प्रभाव शाली होती है इसलिए वह 'मुसौविरग़म' के नाम से प्रसिद्ध हैं। उनकी बहुत सी रचनाएँ हैं, जिनमें से कुछ प्रसिद्ध के नाम 'सुबहज़िंदगी', 'शामज़िंदगी', 'नौहाज़िंदगी', 'उरूस करबला' और 'ज़ुहरा मग़रिब' इत्यादि हैं। १६३६ ई० में उनका देहांत हो गया।

नियाज़ फ़तेहपुरी

उर्दू के प्रसिद्ध, अभ्यस्त साहित्यिक और पत्रकार नियाज़ महम्मद ख़ां उपनाम नियाज़ फ़तेहपुर के रहनेवाले १८८७ ई० में पैदा हुए थे। आरंभिक शिक्षा फ़ारसी-अरबी की घर पर हुई। फिर मदरसा इसलामिया फ़तेहपुर, मदरसा आलिया रामपुर और निदवतुल उल्मा के दारुल उलूम में शिक्षा समाप्त करके हदीस मौलाना ऐनुलक़ज़ात लखनवी से पढ़ी। अँग्रेज़ी निजी तौर पर एफ़० ए० तक पढ़ी और तुर्की की शिक्षा एक तुर्क से प्राप्त की। विविध दैनिक पत्रों में में काम किया। 'निगार' नाम से एक साहित्यिक मासिक पत्र निकाल रहे हैं, जो पहले भूपाल और अब लखनऊ से प्रकाशित होता है। उनकी रचनाओं में 'महाबियात गहवारा तमद्दुन', 'जज़बात भाषा निगारिस्तान', 'शहाब की सर गुज़श्त', 'शायर का अंजाम', 'अलमसलतुल शर्क़िया' और 'अर्ज नग़मा' (गीतांजलि का अनुवाद) प्रसिद्ध हैं।

नियाज़ की शैली सबसे अलग है। वह सीधी-सादी उर्दू में पद्य के समान गद्य लिखना अधिक पसंद करते हैं। लेकिन जब रंग अधिक गहरा हो जाता है तब उनका लेख नीरस मालूम होने लगता है। लेख के ढंग और विषय का चोली-दामन का साथ है। अतः लेख विषय के अनुसार ही होना चाहिए, जो उसमें खप सके। लेकिन यह बात प्रशंसनीय है कि उन्होंने पुराने ढर्रे को छोड़

कर एक नया मार्ग ग्रहण किया है। उन्होंने टैगोर की गीतांजलि का उर्दू में अनुवाद किया है और रूमी और यूनानी देवमाला से भी कभी-कभी लाभ उठाते हैं। उनकी रचनाओं में 'क्यूपिड और साइकी' तथा 'मिरिंखी सैयाह की डायरी' अँग्रेज़ी के अनुवाद मालूम होते हैं। उनकी कुछ पुस्तकें जैसे 'शायर का अंजाम' और 'गहवारा तमद्दुन', जिसमें सभ्यता का शैशवकाल और उसमें स्त्रियों के उन्नति करने की चर्चा है, बहुत ही उत्तम और रोचक हैं। उनका मासिक 'निगार' एक सर्वश्रेष्ठ पत्र है, जिसमें बहुधा उन्हीं के लेख होते हैं, जो बहुत उच्चकोटि के और पठनीय होते हैं।

ख़्वाजा हसन-निज़ामी

ख्वाजा साहब १२९० हि० में दिल्ली में पैदा हुए। कहा जाता है कि उनका जन्म हज़रत निज़ामुद्दीन औलिया की दरगाह में हुआ था। वह आरंभ ही से अख़बारों में लेख लिखा करते थे। कुछ दिनों तक उन पर सरकार संदेह करती रही और पुलिस उनकी निगरानी करती थी। वह एक प्रसिद्ध सूफ़ी होने के कारण मुसलमानों में बहुत प्रभावशाली आदमी हैं। उन्होंने लगभग छोटी-बड़ी पचास पुस्तकें लिखी हैं, जिनमें कुछ अच्छी हैं। उनकी विशेषता यह है कि साधारण विषय और विचारों को लेकर अपनी लेखन-शैली से बहुत रोचक बना देते हैं। लेकिन उनके भाव गहरे नहीं होते। उन्होंने लगभग दस पुस्तकें गदर १८५७ ई० के सम्बन्ध में लिखी हैं, जिनमें कुछ अनुवाद हैं और कुछ में देहली के अंतिम बादशाह की संतानों की दुर्दशा का वर्णन है। उनकी पुस्तक 'कृष्णबीती' को सूफ़ी मुसलमान अधिक पसन्द करते हैं। उनकी अन्य पुस्तकें 'मीलादनामा', 'मुहर्रमनामा' 'यज़ीदनामा', 'बीबी की तालीम', 'औलाद की शादी', और 'जगबीती' कहानियाँ इत्यादि हैं।

प्रेमचन्द

यह कथा-लेखन-कला में बहुत ही प्रसिद्ध थे। उनका असली नाम तो धनपतराय था, लेकिन उन्होंने अपना साहित्यिक नाम प्रेमचन्द रक्खा था। १९३७ वि० में पैदा हुए। उनके पिता मुन्शी अजायबलाल बनारस के निकट पाँडेपुर गाँव के निवासी थे। प्रेमचन्द ने सात-आठ वर्ष तक फ़ारसी पढ़कर अँग्रेज़ी में इन्ट्रेंस पास किया। फिर उन्होंने शिक्षा-विभाग में नौकरी करके धीरे-धीरे प्राइवेट तौर से बी० ए० पास किया

और सब डिप्टी इन्सपेक्टर हो गए, जिस पद को पीछे त्याग दिया। उनका साहित्यिक जीवन वस्तुतः १६०१ ई० से आरम्भ हुआ, जब से वह कानपुर के 'ज़माना' नामक पत्र में लेख लिखने लगे थे। पहले वह उर्दू में छोटी-छोटी कहानियाँ और उपन्यास लिखा करते थे। लेकिन पीछे उर्दूवालों के अनादर के कारण जैसा प्रायः हिंदुओं की उर्दू रचनाओं के प्रति हुआ करता है, उन्होंने हिंदी में लिखना आरंभ किया, जिनमें से 'सेवासदन' और 'रंगभूमि' के अनुवाद क्रमशः 'बाज़ार हुस्न' और 'चौगान हस्ती' के नाम से उर्दू में हो चुके हैं। पहले पहल १६०४ ई० में उनका हिन्दी उपन्यास 'प्रेमा' इंडियन प्रेस से प्रकाशित हुआ था। उन्होंने एक नाटक भी 'करबला' के नाम से लिखा है। वह छोटी-छोटी कहानियों के लिखने में बड़े सिद्धहस्त थे जिनका संग्रह 'सतसरोज', 'प्रेमद्वादशी', 'प्रेमपूर्णिमा', 'प्रेमपचीसी' और 'प्रेमबतीसी' इत्यादि के नाम से छप चुके हैं। इनमें कुछ के उर्दू में अनुवाद हुए हैं। उनकी कुछ कहानियों के अनुवाद अन्य देशी भाषाओं में भी हुए हैं, जो उनकी सर्व-प्रियता के द्योतक हैं। उनके गल्पों का आजकल के बहुत से नामधारी उपन्यासों के साथ वह संबंध है जो सच्चे नगीनों का झूठे बड़े-बड़े पत्थरों से होता है। उनमें अन्य उपन्यासकारों से विशेषता यह थी कि उन्होंने देहात के यथातथ्य चित्रों को प्रदर्शित किया है और वहाँ के किसानों की दशा का सच्चा वर्णन अपने उपन्यासों में किया है। उन्होंने कभी अत्युक्ति से काम नहीं लिया और न सच्चाई से कभी पृथक हुए। उनके लेख में प्रवाह और ओज है, जिसमें ललित रूपक और अलंकारों के सम्मिश्रण से मानो सोने में सुगंध आ गई है। उर्दू और हिन्दी दोनों भाषाओं पर उनका पूरा अधिकार था। साथ ही मनुष्य के आंतरिक भावों के बड़े ज्ञाता थे। उनके लेखों में कहीं विनोद और कहीं वेदना जहाँ जैसा अवसर हुआ दोनों धूप-छांह समान उचित मात्रा में पाए जाते हैं। उनका चरित्र-चित्रण बहुत ही जीता जागता है। उनके अन्य उर्दू नाविल 'ख्वाबो ख़याल' और 'फिरौदोस ख़याल' भी प्रकाशित हो गए हैं। दुख के साथ कहना पड़ता है कि ऐसे महारथी उपन्यासकार का शरीरांत केवल पचपन वर्ष की अवस्था में १६३६ ई० में हो गया, जिससे साहित्यिक जगत को ऐसी हानि पहुँची है कि उसकी पूर्ति कठिन

है। उनके विचार सामाजिक और राजनीतिक मामलों में बहुत ऊँचे थे और वह हिन्दू मुसलमान एकता के बड़े पक्षपाती थे।

सुदर्शन

यह भी पंजाब के एक प्रसिद्ध कहानी-लेखक हैं। असली नाम पं० बद्रीनाथ हैं, पर सुदर्शन के नाम से प्रसिद्ध हैं। बी० ए० पास करके साहित्य सेवा में संलग्न हैं। प्रेमचन्द की कुछ विशेषता इनकी कहानियों में भी है, लेकिन कम मात्रा में। ऐसे ही उनमें वह उस्तादी और कलाकारी नहीं है और न लेखों में उतनी साहित्यिक छटा और शुद्धता है। फिर भी उनकी कहानियाँ रोचकता और आकर्षण में कम नहीं हैं। प्रेमचन्द की तरह उन्होंने भी हिन्दी में बहुत सी रचनाएँ की हैं। उनकी पुस्तकों में 'मुहब्बत का इंतिक़ाम' एक इनामी निबंध है जिस पर पाँच सौ रुपया पंजाब गवर्नमेंट ने दिया था। यह पहले हिन्दी में लिखा गया था, पीछे उर्दू में भाषांतर हुआ। 'चन्दन' उनके पंद्रह कहानियों का संग्रह है, जिसकी भूमिका ख्वाजा हसन निज़ामी ने लिखी है। दूसरा संग्रह 'बहारिस्तान' की प्रस्तावना मुंशी प्रेमचन्द ने लिखी है। 'तहज़ीब के ताज़ियाने' और 'ज़हरीला साँप' बंकिम बाबू के कुछ लेखों और उपन्यास के अनुवाद हैं 'औरत की मुहब्बत' भी एक बँगला पुस्तक का भाषांतर है। 'बेगुनाह मुजरिम' की सामग्री बँगला और फ्रेंच की पुस्तकों से ली गई है। 'सदाबहार' भी उनकी लघु कहानियों का संग्रह है।

उर्दू के अन्य कहानी-लेखक

आजकल उर्दू के उपन्यासकारों और गद्य लेखकों की संख्या इतनी बढ़ गई है कि उनके नाम गिनाना कठिन है। उनमें जो अधिक प्रसिद्ध हैं वे (१) हामिदउल्ला अफ़सर मेरठी, जो एक कवि और समालोचक होने के सिवा छोटी कहानियाँ भी अच्छी लिखते हैं। उनकी अनेक पुस्तकें शिक्षा-विभाग में स्वीकृत हैं (२) मजनूँ गोरखपुरी, (३) अहमद हुसैन खाँ संपादक 'शबाब उर्दू', (४) सैयद आबिद अली, (५) हकीम सुजाउद्दीन और (६) मौलवी ज़फ़र उमर, जो जासूसी की कहानियाँ लिखने में प्रवीण हैं। उनके नाविल 'नीली छतरी' और 'बहराम की गिरफ़्तारी' बहुत प्रसिद्ध हैं। इनके अतिरिक्त कुछ महिलाएँ भी कहानियाँ लिखने लगी हैं। पंजाब से बहुत सी कहानियाँ स्त्रियों की लिखी हुई प्रकाशित हुई हैं।

अध्याय ४

उर्दू-नाटक

उर्दू-नाटक एक विदेशी पौधा है, जो उर्दू के क्षेत्र में उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में लगाया गया और अब खूब जड़ पकड़ गया है और बहुत स्वस्थ मालूम होता है। नाटक अर्थात् रूप भर कर अभिनय करना हरेक जाति में स्वाभाविक है, चाहे वह जाति सभ्यता के ऊँचे शिखर पर पहुँच गई हो, चाहे अंधकार के गर्त में पड़ी हुई हो। अलबत्ता कुछ देशों में यह अभिरुचि दबा दी गई। मुसलमान नाटकों को, जिसके अंतर्गत मूर्तिनिर्माण, चित्रकारी, नृत्य और संगीत सब का समावेश रहता है, धर्मविरुद्ध समझते हैं। अतः उनके देशों में ललित कलाओं के विकास और उसकी उन्नति की रुकावट रही। इसी सबब से फ़ारसी से उर्दू को नाटकों का कोई नमूना नहीं मिला। लेकिन स्वयं फ़ारसी भाषा इससे नहीं बची, वहाँ नाटक ने मरसिए का रूप धारण कर लिया, जिसमें करबला के मैदान में हज़रत इमाम हसन और इमाम हुसैन के बध होने पर वेदना और शोक का प्रदर्शन होने लगा। धर्म का तत्व जो पुराने समय में प्रधान था अब नाटक तथा अन्य प्रकार के साहित्य द्वारा उसका प्रचार होने लगा। योरप के 'मिराकल प्ले' (जिनमें विलक्षण बातें दिखलाई जाती हैं) तथा 'मिस्ट्री प्ले' (जिनमें रहस्यपूर्ण दृश्य प्रदर्शित किए जाते हैं) प्राचीन चर्च के रिवाज़ और प्रार्थना-विधि के द्योतक हैं। इसी प्रकार संस्कृत और हिंदी के धार्मिक नाटक हैं जो पुराणों और अन्य धर्म-पुस्तको से लिए गए हैं। ऐसे ही ओबरामरगो के 'पैशनप्ले' का स्रोत भी पुराने धार्मिक विश्वास हैं। ओबरामरगो जर्मनी का एक स्थान है। वहाँ निश्चित समय पर महात्मा ईसा के जीवन-वृत्तांत नाटक के रूप में उसी प्रकार दिखलाए जाते थे, जैसे यहाँ रामलीला होती है।

नाटक की व्यापकता

हिंदुस्तान में नाटक की कला बहुत उच्चकोटि पर पहुँच गई थी, अतः

प्राचीन संस्कृत नाटक को उर्दू पर कुछ न कुछ प्रभाव अवश्य डालना चाहिए था। परंतु खेद के साथ कहना पड़ता है कि जैसे उर्दू-पद्य संस्कृत के प्रभाव से वंचित रहा, वैसे ही उर्दू-नाटक पर भी उसका कोई प्रभाव न पड़ा। संस्कृत के इन दोनों भंडार से उर्दू ने कोई लाभ न उठाया। इसका कारण यह है कि संस्कृत नाटकों का सुनहला युग समाप्त हो चुका था और अब वह कला केवल पुस्तकों में बंद थी। उसका सर्वश्रेष्ठ साहित्य देशी भाषाओं में न था और न उसका खेल ही हुआ करता था। आरंभ में बौद्ध और जैनी नाटक को पसंद नहीं करते थे, लेकिन पीछे यह देखकर कि यह उनके धर्म प्रचार का एक बड़ा साधन है वे भी इसका आदर करने लगे, बौद्धमत के नाटकों की अशोक और हर्ष के समय में बड़ी उन्नति हुई। लेकिन जब बौद्धमत का ह्रास हुआ तो यह कला अपना पुराना उत्कर्ष प्राप्त न कर सकी, इसलिए कि विदेशियों के आक्रमण और जाति की दरिद्रता से देश में उथल-पुथल हो गया था। अतः नाटक की ओर जनता का ध्यान कम हो गया और जब नीचे दर्जे के लोगों ने नाटक की कंपनियाँ खोल लीं तो पुराने नाटक का रहा सहा वैभव और भी जाता रहा। ऐक्टर (खेलने वाले) अच्छी दृष्टि से नहीं देखे जाते थे और उनका विषय भी साधारण बल्कि कभी-कभी गंदा होता था। इन्हीं दिनों में उर्दू अपना जन्म ले रही थी। संस्कृत के नाटक तो पुस्तकों में बंद थे। हिंदी के नाटक नीचे दर्जे के हो गए थे। इससे अतिरिक्त उर्दू भाषा आरंभ ही से फ़ारसी की गोद में पली थी। अतः उसकी सौतेली मां ने सगी मां को कोने में बिठा दिया था। फ़ारसी कथाएँ, फ़ारसी मुहावरे और फ़ारसी विचार की उर्दू में प्रधानता थी। फ़ारसी साहित्यिक इस नव-जात शिशु को प्यार करते थे। अतः वह फ़ारसी स्रोत से जल पीकर संतुष्ट होता था। संस्कृत विद्वानों की उपेक्षा से उर्दू मुसलमानों ही की गोद में पलने लगी। उधर फ़ारसी के विद्वान संस्कृत से अनभिज्ञ थे। इसलिए संस्कृत के नाटक और पद्य का उर्दू पर प्रभाव न पड़ सका। यदि ये लोग हिंदी और संस्कृत का आदर करते तो आज यह दशा न होती और उर्दू अपने मीन-मेष निकालने वालों को खरा जवाब दे सकती।

संस्कृत और हिंदी नाटकों का उर्दू पर क्यों प्रभाव नहीं पड़ा?

मिस्टर अब्दुल्ला यूसुफ़ अली आई० सी० एस० ने अपने एक निबंध में

उर्दू नाटक के निम्नलिखित तत्व बतलाए हैं :—

(१) प्राचीन संस्कृत नाटक, (२) हिंदुओं के धार्मिक नाटक और उनके देवी-देवताओं का वर्णन, (३) वे चीज़ें जो नीचे श्रेणी के लोगों में प्रचलित हैं, जैसे.स्वांग और नौटंकी इत्यादि, (४) मुसलमानी पद्य तथा पुरानी कथाएँ, (५) वर्तमान काल के अँग्रेज़ी नाटक और उनके रंगमंच की उन्नति।

संस्कृत-नाटक

प्राचीन संस्कृत नाटक का उर्दू पर बहुत कम प्रभाव पड़ा, फिर भी कुछ प्रसिद्ध संस्कृत नाटकों का उर्दू में अनुवाद हो गया है, और वे खेलने योग्य हो गए हैं। थोड़े दिनों से नाटक के पुराने नियमों का भी व्यवहार किया जा रहा है, विशेषतया, जिनका संबंध प्रारंभिक दृश्य से है। जैसे नाटक के आरंभ होने के पहले एक व्यक्ति जो सूत्र-धार कहलाता है अपनी स्त्री के साथ मंच पर आता है और अभिनय का पूरा वृत्तांत संक्षेप में दर्शकों को बतला देता है। इसके अतिरिक्त विदूषक अर्थात् लोगों को हँसाने वाले का भी पार्ट अवश्य होता है। लेकिन अच्छे तमाशों में वह बिल्कुल अलग रहता है और तमाशे की घटनाओं से उसका कोई सम्बन्ध नहीं होता।

हिंदुओं के देवताओं के नाटक

इस प्रकार के नाटकों ने, जिनको अंग्रेज़ी में 'मिराकल प्ले' कहा जा सकता है, उर्दू के नाटकों पर बहुत कुछ सामग्री एकत्रित की। इनका संबंध उर्दू नाटक के साथ वही है, जो शेक्सपियर के नाटकों के साथ, होलिनशेड और हाल[1] की पुरानी कहानियों तथा प्लूटार्क[2] की यूनान के प्रसिद्ध लोगों की जीवनी का है। यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो उर्दू नाटक का आरंभ इसी प्रकार की हिंदी की चीज़ों से हुआ था। पुराने समय से हिंदू लोग राम और कृष्ण की प्रसिद्ध जीवन घटनाओं को त्यौहारों के अवसर पर मंदिरों में नाटक के रूप में लोगों को दिखलाते थे कि

[1] ये दोनों इंगलैंड में सोलहवीं शताब्दी में हुए थे। इनके ऐतिहासिक कहानियों से शेक्सपियर ने बहुत कुछ सहायता ली है।

[2] यह यूनान का एक प्रसिद्ध इतिहासकार था जो सन् ४० ई० के लगभग पैदा हुआ था।

वे उनसे परिचित होकर उपदेश ग्रहण करें। रामायण की घटनाएँ दशहरे के समय में इसी प्रकार की हैं और नाटक के नाम से प्रसिद्ध हैं, जो भक्तों तथा स्त्रियों को बहुत पसंद हैं। इसी प्रकार कृष्णजी के शृंगार रसात्मक गीत उर्दू-नाटक के तत्व बन गए हैं। सच पूछिए तो वह सब रसीली और भावुक कविता जो हिंदी और बँगला में इस समय है, उसका आधार अधिकांश कृष्ण और राधा के प्रेम पर है। बहुत-सी देशी कंपनियाँ जो मंडल कहलाती हैं, मथुरा वृंदावन से चलकर रास्ते के गांवों में अपने तमाशे से लोगों को प्रसन्न करती हैं। नाच और गाना इन तमाशों का प्राण है। इस प्रकार की मंडलियाँ धनाढ्य और शिक्षित लोगों के लिए नहीं हैं, बल्कि जनता के मनोरंजन के लिए हैं। ये लोग जगह-जगह की सैर करते फिरते हैं। जहाँ पहुँचे तुरंत मंच खड़ा कर लिया। कुछ कपड़े अपने पास रखते हैं और कुछ इधर-उधर से माँग लेते हैं। अपने चेहरों को रंग लेते हैं और दिया या मशालों के प्रकाश में अपने तमाशे दिखाते हैं और अंत में कुछ पैसे दर्शकों से पा जाते हैं।

मौलाना ग़नीमत काश्मीरी ने अपनी मसनवी 'नैरंग इश्क़' में इन लोगों की, जिनको उन्होंने 'भगतबाज़' कहा है, ख़ूब हँसी उड़ाई है। शायद इन्हीं लोगों से वाजिदअली शाह ने जो भोग-विलास के लिए प्रसिद्ध थे, नाटकों का पाठ सीखा होगा, और वह उनको बहुत पसंद आया होगा। फिर उन्होंने अपने नाटक और रहस की मंडली बना ली, जिसमें वह स्वयं कन्हैया और उनके महल की स्त्रियाँ भड़कीले कपड़े पहनकर गोपियाँ बनती थीं। हमारी समझ में यह नाच और गाना जो उर्दू नाटक का प्राण है, इन्हीं रहस की मंडलियों से लिया गया है और संभव है कि फ्रेंच ओपरा का भी उसपर कुछ प्रभाव पड़ा हो, क्योंकि वाजिदअली शाह के समय में उनके योरोपियन मित्रों के सबब से लखनऊ में इसका प्रचार हो गया था।

स्वाँग और नक़लें इत्यादि

स्वाँग का हिंदुस्तान में वही रूप है, जो 'पेजेंट' का अंग्रेज़ी ड्रामा की उन्नति से पहले इंग्लैंड में था। हिंदुओं के त्यौहारों में स्वाँग भर कर लोग बाजे-गाजे के साथ दलबद्ध होकर निकलते हैं। इनको प्रारंभिक भद्दी नक़्क़ाली समझना चाहिए, लेकिन इनमें विनोद और प्रहसन अवश्य पाया जाता है। पुराने समय के भाँड

अमीरों के दरबार में नौकर थे और अपनी हँसी की बातों और स्वाँग से अपने मालिकों को प्रसन्न करते थे। नक़ल बनाना उस समय सरल न था, और परिश्रम के साथ सीखने से आता था, और उसकी पूर्ति के लिए नाचना-गाना आवश्यक था। यहाँ के नक़ल करने वाले उसी ढंग के थे, जैसे इंग्लैंड में एलीज़बेथ के समय में दरबारी मुसाहब और नौकर-चाकर थे, जो दल बाँधकर निकलते थे और अपने गाने-बजाने और हँसी-दिल्लगी से लोगों को प्रसन्न करते थे। लोगों का विचार है कि यही फिरने वाली नक्क़ाल कंपनियाँ एलीज़बेथ के समय का विकसित रूप हैं। हिंदुस्तान में नक्क़ालों की मंडली 'तायफ़ा' के नाम से प्रसिद्ध है, जो शादी ब्याह के अवसर पर भाड़े पर बुलाई जाती है, और अपने नाच-गाने तथा हँसी दिल्लगी से लोगों को प्रसन्न करती है। आजकल के तमाशों की नक़लें और हँसी-दिल्लगी, उन्हीं पुराने समय की नक़लों से ली गई है।

ये भी उर्दू नाटक के विशेष अंग हैं। उर्दू की शृंगार-रस की कविता नाटक लिखने के लिए बहुत ही उपयोगी है। इस प्रकार की ऊँचे स्वरों की

मुसलमानी कवितायें और कहानियाँ

कविता और तुकांत-गद्य काव्य प्राचीन नाटक के लिए बहुत ही प्रभावशाली है। उर्दू बड़ी ओजस्वी भाषा है। उसका ढंग और अलंकार बहुत ही चित्ताकर्षक और प्रशंसनीय है। वह शृंगार और वीररस तथा भाव-चित्रण के लिए पूरी तौर समुचित है।

इसका प्रभाव आजकल के उर्दू नाटक पर अधिक है। उर्दू मंच आज कल अँग्रेज़ी नाटकों के अनुवाद से भरा हुआ है। मंच का रंग-ढंग, थियेटर की

अँग्रेज़ी-मंच

बनावट, परदे, पोशाक दर्शकों के बैठने की जगहें, तमाशे का विभाग, खेलों की व्यवस्था, ये सब बिल्कुल अँग्रेज़ी नियमों के अनुसार हैं।

उर्दू-नाटकों का साहित्य कुछ तो स्वतंत्र है, लेकिन बहुत कम, और जो नाटक हैं वह किसी राजनीतिक या सामाजिक विषय को लेकर हैं। अनुवाद

उर्दू-नाटक का विवरण

संस्कृत, अँग्रेज़ी, फ़ारसी और देशी भाषाओं में विशेषतया बँगला, मराठी और अधिकांश हिंदी से किए गए हैं। इसी प्रकार कहानियों के विषय पुराण और हिंदू देवमाला, फ़ारसी, अरबी, अँग्रेज़ी हिंदुस्तान के पुराने और प्रसिद्ध आख्यान तथा वर्तमान समय के

कुछ राजनीतिक अथवा सामाजिक कुरीतियों से लिए गए हैं।

सबसे पहला उर्दू नाटक 'इन्द्रसभा' है, जिसको नासिख के शिष्य अमानत ने लिखा था, जिनका संबंध वाजिदअली शाह के दरबार से था; और कहा जाता है कि यह बादशाही हुक्म से लिखा गया था।[1]

उर्दू-नाटक पर दरबारों का प्रभाव

फ़र्रुख़सियर के समय में हिन्दी के एक कवि 'निवाज़' ने शकुंतला नाटक का ब्रजभाषा में अनुवाद किया था। लेकिन इसको नाटक समझना भ्रम है। इसलिए कि यह न तो शुद्ध अनुवाद है, क्योंकि दोहा के रूप में है और न उसमें नाटक का कोई ढंग है, क्योंकि नाटक के पात्र नियमानुसार आते जाते नहीं और उसमें चरित्र तथा अभिनय का पता नहीं है। इसलिए उर्दू से उसका कोई संबंध नहीं है। शाही ज़माने में नक्काल और बहुरूपियों का बड़ा रिवाज था। उनकी नक़लों से लोग ख़ुश होकर इनाम-इकराम दिया करते थे। प्रसिद्ध है कि महम्दशाह, जो विलासप्रिय होने से 'रँगीले' कहे जाते थे, नाच-रंग में संलग्न थे, कि नादिरशाह ने दिल्ली पर हमला किया। उस सभा में इस भय से कि रंग भंग न हो, किसी की हिम्मत नहीं पड़ती थी कि इस अशुभ घटना की सूचना दे। लोगों ने विवश होकर एक नक़्क़ाल के द्वारा बादशाह को यह ख़बर पहुँचाई।

नक़लों या स्वाँग की कोई पुस्तक नहीं बनी, बल्कि यथाअवसर वह तुरंत बना लिए जाते थे।

लखनऊ, जो अवध के बादशाहों की राजधानी थी, भोग-विलास का केंद्र बना हुआ था, विशेषतया वाजिदअली शाह का समय तो धन-धान्य और टीम-टाम में सब से बढ़कर था। उस समय का सच्चा चित्र इन शब्दों में आँखों के सामने फिर जाता है। "वहाँ संपत्ति, विषय-भोग, रंगरलियाँ, छिछोरा-पन, वेश्याएँ और गाना-बजाना हर ओर था तथा रसिक स्वभाव के सुंदर

---

[1] इस पर उर्दू अनुवादक का नोट है कि यह पुस्तक न तो वाजिदअली शाह के हुक्म से लिखी गई और न उसके तमाशे में वह स्वयं कोई पार्ट लेते थे। बल्कि अमानत के एक शागिर्द ने उसको लिखा था।

युवक युवतियों के जमघटे रहा करते थे। जीवन इस आनंद से व्यतीत हो रहा था जैसे फूलों के तख्तों पर वसंत ऋतु का त्रिविध समीर चल रहा हो। हर ओर से सुरीले तान कानों को आनंदित कर रहे थे। कल्पित परियों का देश इस वास्तविक परिस्तान के आगे तुच्छ था, जहाँ लाखों आदमी बड़ी निश्चिंतता के साथ मौज उड़ा रहे थे। शाहज़ादे, अमीर-उमरा, और दरबारी जो सब ऐश में डूबे हुए थे, उनको देख कर सांसारिक ऐश्वर्य का सच्चा चित्र आँखों के सामने फिर जाता था"।

इसी दरबार में उर्दू-नाटक का जन्म हुआ। बादशाह और उनके मुसाहब अपने मनोरंजन के लिए नए-नए उपाय सोचा करते थे। एक फ्रांसीसी ने, जिसका दरबार से संबंध था, आपेरा नामक खेल का प्रस्ताव उपस्थित किया, जो तुरंत स्वीकार कर लिया गया, जिसका उस समय योरप में बहुत प्रचार था, इसलिए कि इसमें सैकड़ों चन्द्रमुखी गानेवालियों के लिए, जिनसे दरबार भरा हुआ था, एक अच्छा काम-धंधा निकल आया, और अमानत को तुरंत एक तमाशा लिखने के लिए हुक्म हुआ।

अमानत की 'इन्दर सभा'

अमानत ने १८६३ ई० में अपनी पुस्तक 'इंदर सभा' तैयार की, जो 'कामेडी' अर्थात् एक सुखांत नाटक है। इसमें नृत्य और संगीत दोनों हैं, इसलिए यह संगीतमय 'कामेडी' होने से एक प्रकार का आपेरा नामक खेल है। जब यह पुस्तक तैयार हुई तो इसके लिए कैसरबाग़ के महल में एक मंच सुसज्जित किया गया। कहा जाता है कि बादशाह स्वयं इसमें राजा इन्द्र बनते थे और परियों का पार्ट सुन्दर स्त्रियाँ भड़कीले कपड़े और जवाहरात पहन कर करती थीं। इन तमाशों में किसी अजनबी आदमी को जाने की आज्ञा न थी। यह विषय कि उर्दू नाटक की उन्नति में योरपवालों ने कोई भाग लिया या नहीं विवादास्पद है। मौलवी अब्दुलहलीम शरर इसको नहीं मानते। अतः यह बात अब तक अंधकार में है, और न उस समय का कोई प्रामाणिक इतिहास मिलता है, जिससे इस पर प्रकाश पड़ सके। लेकिन इतना अवश्य मालूम होता है कि योरोपियन लोगों ने उर्दू ड्रामा को वर्तमान समय के अनुसार बनाने और मंच की सजावट में कुछ न कुछ अवश्य सहायता दी होगी। नूर इलाही और महम्मद उमर ने

अपनी पुस्तक 'नाटकसागर' में बहुत सी युक्तियाँ शरर के जवाब में दी हैं, जैसे वाजिदअली शाह के दरबार में योरोपियन लोगों की उपस्थिति, स्वयं बादशाह को नई चीज़ों का शौक़ तथा 'इंदरसभा' के भीतरी प्रमाण। इसके अतिरिक्त ख़ुरशेद जी बाली का, जो उस समय के एक प्रसिद्ध पारसी एक्टर थे, कथन भी इसके समर्थन में है। लेकिन सच तो यह है कि निश्चयपूर्वक यह नहीं कहा जा सकता कि वाजिदअली शाह स्वयं इस तमाशे में कुछ भाग लेते थे या नहीं अथवा यह क़ैसरबाग में खेला जाता था और यह कि अमानत ने बादशाह की आज्ञानुसार इसको लिखा था।

'इन्दरसभा' का प्लाट मामूली है। यह पुस्तक राजा इन्द्र के दरबार अर्थात् सभा के दृश्य से आरंभ होती है। यह कहानी इतनी प्रसिद्ध है कि इसके विवरण लिखने की ज़रूरत नहीं है। उक्त पुस्तक प्रकाशित होते ही बहुत सर्वप्रिय हुई। कारण यह था कि उसके प्रारम्भिक धुन तथा शेर और गीत बड़े-बड़े उस्तादों ने चुने और सामान अर्थात् परदा और वस्त्र इत्यादि बहुत भड़कीला था। उसकी सफलता देखकर मंदारीलाल ने एक दूसरी 'इन्दरसभा' लिखी जो साहित्यिक दृष्टि से तो अमानत की पुस्तक के जोड़ की नहीं है, यद्यपि नाटक के ढंग से, उसके बराबर या उससे बढ़कर हो, पीछे जब थियेट्रिकल कम्पनियों का प्रचार हुआ तब भी उसको सर्वप्रिय होने में कोई अन्तर नहीं हुआ। यहाँ तक कि देवनागरी, गुजराती और गुरुमुखी आदि में अनूदित हो गई। कम से कम उसके चालीस संस्करण इन्डिया आफ़िस के पुस्तकालय में हैं और सुना जाता है कि उसका एक अच्छा और समालोचनात्मक संस्करण लाहौर से निकलने वाला है। उसका एक अनुवाद जर्मन भाषा में १८६२ में लिपज़िग से प्रकाशित हुआ है।

आरंभ में हिंदू-देवमाला की कथाएँ अभिनय करके दिखलाई जाती थीं। उनको देखकर कुछ पारसी युवकों के दिल में विचार उत्पन्न हुआ कि कुछ प्राचीन ईरानी कहानियाँ रुस्तम और सुहराब इत्यादि के तमाशे तैयार करके मंच पर दिखलाए जायँ। इन तमाशों को ऐसे लोगों ने भी देखा जो योरप के थियेटर देख चुके थे। उन्होंने पसंद किया। अतः कुछ धनाढ्य पारसियों ने जो कारोबार की

उर्दू-नाटक और पारसी

योग्यता रखते थे, कुछ कंपनियाँ बड़े-बड़े शहरों में जैसे दिल्ली, कलकत्ता और बंबई में अँग्रेज़ी थियेटर के नक़ल में स्थापित कीं। इस प्रकार की सब से पहली कंपनी सेठ पिस्टनजी फ़रामजी की थी, जिनको उर्दू स्टेज का पितामह समझना चाहिए। यह महाशय उर्दू ख़ूब जानते थे, बल्कि 'रंग' और 'पर्वी' के नाम से कविता भी करते थे और नवाब अली नफ़ीस से संशोधन कराते थे।

ओरिजिनल थियेट्रिकल कंपनी

यह रौनक़ की कंपनी का नाम था, जिसमें वह पार्ट अदा करते थे तथा ख़ुरशेदजी बालीवाला, काऊसजी खटाऊ, सुहराबजी और जहाँगीरजी उनके साथ प्रसिद्ध ऐक्टर थे। इनके तमाशों की भाषा उर्दू थी, लेकिन दिल्ली और लखनऊ की-सी नहीं, बल्कि ऐसी भाषा जिसको सब लोग समझ सकें। कंपनी व्यापार के ढंग की थी, अतः वही भाषा होती थी, जो बंबई, गुजरात और बंगाल आदि सारे देश में समझी जा सके। तमाशे 'इंदरसभा' के अनुकरण में पद्य में होते थे। उस समय के नाटक लिखने वाले रौनक़ बनारसी और मियां हुसैनी थे, जिनका उपनाम 'ज़रीफ़' था। रौनक़ बंबई में रहते थे और अँग्रेज़ी तमाशों का अनुवाद करते थे। इनका एक नाटक 'इंसाफ़ महमूद शाह' १८८२ ई० में बंबई से छपकर प्रकाशित हुआ था। ज़रीफ़ के बहुत से नाटक हैं, जिनमें 'नतीजा असमत', 'ख़ुदादोस्त', 'चाँदबीबी', 'बुलबुल बीमार' इत्यादि अधिक प्रसिद्ध हुए। जब फ़रामजी का देहांत हो गया तो बालीवाला और काऊसजी ने अलग-अलग अपनी कंपनियाँ बना लीं।

विक्टोरिया नाटक कंपनी

यह कंपनी ख़ुरशेदजी बालीवाला की थी और इसका थियेटर १८७७ ई० के दरबार देहली के अवसर पर मौजूद था। ख़ुरशेदजी स्वयं एक प्रसिद्ध ऐक्टर थे, विशेषतया कोमिक पार्ट बहुत अच्छा और खुलकर करते थे। उनको मंच पर देखते ही लोग हँसते-हँसते लोट जाते थे। उनकी कंपनी में और प्रसिद्ध ऐक्टर रुस्तमजी, मिस ख़ुरशेद, मिस महताब और एक योरोपियन मिस मेरी फ़ेन्टन थी, जो हिंदुस्तानी गाने ख़ूब गा लेती थी। यह कंपनी एक समय में इंग्लैंड भी गई थी, लेकिन उसको वहाँ बहुत हानि उठानी पड़ी, जिसकी पूर्ति अंत में बंबई में हो गई।

मुंशी विनायक प्रसाद बनारसी इस नाटक के लेखक थे। यह कविता भी करते थे और रासिख़ देहलवी के शागिर्द थे। उन्होंने नाटक की कला को

तालिब बनारसी

बहुत उन्नत किया, और उसकी भाषा और विषय को ठीक-टाक किया। १९१४ ई० में तालिब का देहांत हो गया। उनका एक नाटक 'लैलो निहार' है, जो लार्ड लिटन की एक पुस्तक का अनुवाद है, जिसमें उन्होंने मूलपुस्तक की रूपरेखा को बहुत कुछ सुरक्षित रक्खा है। उनकी अन्य कृतियाँ 'विक्रमविलास', 'दिलेरदिलशेर', 'नाज़ाँ', 'निगाह ग़फ़लत', और 'गोपीचन्द' हैं।

विक्टोरिया कंपनी के मुक़ाबले में यह कंपनी काऊसजी ने स्थापित की थी। ख़ुरशेदजी के विपरीत काऊसजी एक प्रसिद्ध ट्रेजिक ऐक्टर थे, अर्थात्

अल्फ्रेड थियेट्रिकल कंपनी

व्यथा और वेदना के भावों के प्रदर्शन के उस्ताद थे। उनको लोग हिंदुस्तान का इरविंग कहते थे। वह शेक्सपियर के रोमिओ और हेमलेट का पार्ट ख़ूब करते थे; और ख़ुरशेदजी के समान इस कला में निपुण थे। १९१४ ई० में लाहौर में उनका देहांत हो गया। उनकी कंपनी के प्रसिद्ध ऐक्टर 'मंचेरशाह', 'गुलज़ार ख़ां', 'माधव राम', 'मास्टर मोहन', 'मास्टर मंचेरजी', 'मिस ज़हरा' और 'मिस गौहर' थीं। उनके मरने के पश्चात् उनके बेटे जहाँगीर ने चार-पाँच साल तक थियेटर चलाया और फिर कलकत्ता के मिस्टर मेडन के हाथ उसे बेंच डाला, जिनकी १९२३ ई० में मृत्यु हो गई।

उक्त कंपनी के नाटक लिखनेवाले अहसन लखनवी थे, जिनका नाम सैयद महंदी हसन है। ये हकीम मिर्ज़ा शौक़ के नाती हैं। यह न केवल एक

अहसन लखनवी

ड्रामा-लेखक हैं, बल्कि एक अच्छे कवि और संगीतज्ञ हैं। इनके नाटकों की भाषा बड़ी स्वच्छ और मुहावरेदार है। इन्होंने मीर अनीस की जीवनी 'वाक़यात अनीस' के नाम से लिखी है। इनके नाटक 'फ़ीरोज़ गुलनार', 'चंद्रावली', 'दिलफरोश', 'भूल भुलैया', 'बकावली' और 'चलतापुर्ज़ा' हैं।

अहसन के पश्चात् अल्फ्रेड कंपनी के ड्रामा लिखने का काम पं० नरायनप्रसाद 'बेताब' के सिपुर्द हुआ, जो पं० दलाराय के लड़के और कविता

में सरदार महम्मद खां तालिब (ग़ालिब के शिष्य) और नज़ीर हुसैन सखा के शागिर्द थे। बेताब बंबई में रहकर उक्त कंपनी में काम करते थे और एक पत्र 'शेक्सपियर' के नाम से निकालते थे, जिसमें प्रसिद्ध नाटकों का अनुवाद छपता था। उन्होंने 'क़त्ल नज़ीर', 'महाभारत', 'ज़हरी साँप', 'फ़रेब मुहब्बत', 'रामायन', 'गोरखधंधा', 'पटनी प्रताप', 'कृष्ण सुदामा', नामक नाटक लिखे हैं। 'क़त्ल नज़ीर' इसलिए बहुत प्रिय हुआ कि उस समय नज़ीरजान नामी रंडी दिल्ली में मार डाली गई थी, जिसकी चर्चा लोगों में फैली हुई थी। महाभारत सबसे पहले दिल्ली में १९१३ ई० में खेला गया था, जो बहुत ही पसंद किया गया। बेताब को इसमें बड़ा अभ्यास था कि महाभारत इत्यादि हिंदुओं की धार्मिक पुस्तकों से, जो रोचक कथाओं की खान हैं, आवश्यक विषय चुनकर उनको नाटक का रूप दे देते थे। वह हिन्दी के भी कवि थे, अतः उनके दोहे और गीत इत्यादि बड़े मधुर और प्रभावशाली होते थे। उन्होंने अनेक ऐतिहासिक घटनाओं को, जैसे द्रौपदी का महाराज श्रीकृष्णजी की रक्त बहती उँगली के लिए अपनी साड़ी फाड़ डालना और सेवा और चेता चमारों की कहानी, इत्यादि बड़ी कुशलता से अपने नाटक में वर्णन किया है। कुछ लोग साड़ी फाड़ने का सीन नाटक के नियम और सभ्यता के विरुद्ध बतलाते हैं। लेकिन इसमें कोई बात नहीं है, बल्कि इससे अत्यन्त भक्ति, प्रेम और श्रीकृष्णजी की महानता प्रकट होती है। एक और आपत्ति उनके नाटकों पर यह की जाती है कि स्वर्ग-नरक का दृश्य बहुत ही भोंडेपन और पुराने ढंग से दिखलाया गया है। उनके नाटकों की भाषा भी किसी अंश में संशोधनीय है। उनके यहाँ तुकांत गद्य बहुत हैं, जो कभी-कभी बहुत खटकते हैं। इसी प्रकार हिंदी और संस्कृत शब्दों का फ़ारसी-अरबी के साथ बेजोड़ मेल है। पद्य भी कहीं-कहीं वार्तालाप में व्यवहृत हुए हैं, यहाँ तक कि दुःख और क्रोध की अवस्था में भी पद्य ही पढ़े जाते हैं, जो अस्वाभाविक है। लेकिन इन त्रुटियों के होने पर भी बेताब ने नाटक लिखने में बहुत कमाल किया है। कुछ विरोधी दल वाले यह भी कहते हैं कि बेताब आर्यसमाजी थे इसलिए कहीं-कहीं ऐसी बातें लिख गए हैं जो सनातनधर्मियों को पसंद नहीं हैं। लेकिन हमारी समझ में इसमें कोई तथ्य नहीं है। इनके तमाशे इसलिए अधिक प्रसिद्ध हुए कि प्रसिद्ध सुन्दर स्त्रियाँ

बेताब देलहवी

इसमें पार्ट करती थीं। सारांश यह कि बेताब की भावुकता गहरी और चरित्र-चित्रण बड़े उत्तम होते थे, तथा वह ड्रामा के नियमों को ख़ूब समझते थे।

मुहम्मद अली नाखुदा नाम के एक आदमी ने इस कंपनी को खोला, जिसके मैनेजर प्रसिद्ध ऐक्टर सुहराबजी थे, जो पीछे उसी में साझेदार हो गए।

न्यू अल्फ़्रेड कंपनी

यह कंपनी इधर-उधर घूम फिर अंत में अहमदाबाद में जाकर स्थापित हो गई। अब्बास अली और अमृतलाल केशन उसके प्रसिद्ध ऐक्टर थे। अमृतलाल का मिस गौहर के साथ प्रेम हो गया था। ये दोनों अंत में पारसी-नाटक मंडली में चले गए, जिसके मालिक फ्रामजी अप्पू ने अमृतलाल को मैनेजर बना लिया था। अमृतलाल ने कुछ और आदमियों से मिलकर अपना नाटक 'अमृत' निकाला। अमृतलाल की मृत्यु बदचलनी के कारण युवावस्था ही में हो गई थी।

यों तो हश्र काश्मीर के निवासी थे, लेकिन बहुत दिनों से उनका परिवार बनारस में रहता है। हश्र अमृतसर में पैदा हुए थे। वह बड़े प्रतिभाशाली

आग़ा हश्र काश्मीरी

आदमी थे। उन्होंने अनेक तमाशे न्यू अल्फ़्रेड कंपनी के लिए लिखे, जिनके प्लाट अधिकांश योरप के ड्रामा से लिए गए हैं। उक्त कंपनी को छोड़कर उन्होंने अपनी कंपनी 'शेक्सपियर थियेट्रिकल कंपनी' के नाम से खोली, जो हानि उठाकर थोड़े ही दिनों में बंद हो गई। फिर वह कलकत्ता जाकर मेडन के यहाँ अच्छी तनख़ाह पर फ़िल्म ऐक्टर हो गए। उनकी प्रसिद्ध पुस्तकें 'शहदिनाज़', 'मुरीदइश्क', 'असीरी', 'हर्स', 'तुर्कीहूर', 'ख़ूबसूरत बला' तथा कुछ हिंदी ड्रामे ''सूरदास', 'सीताबनवास', और 'गंगावतरण' इत्यादि हैं।

आग़ा हश्र को लोग उर्दू नाटक का मारलो कहते हैं, क्योंकि उनके यहाँ मारलो का रंग अधिक है। वह अपने चरित्रों में भावुकता अधिक दिखाते हैं। उनका प्रेम बहुत तीव्र और उग्र है, उनके करुणा-रस में कष्टदायक सीन और व्यथा असीम है। वह गद्य-पद्य दोनों के उस्ताद हैं। उनका वर्णन वहाँ बड़ा मज़ेदार मालूम होता है, जहाँ वह दो परस्पर विरोधी चरित्रों का आपस में वार्तालाप कराते हैं। इस प्रकार के सीन आपको 'असीर हिर्स', 'ख़ूबसूरतबला', और 'सूरदास' में मिलेंगे। आग़ा हश्र के नाटकों में वही त्रुटियाँ भी हैं जो

मारलो में हैं अर्थात् भावुकता के वेग न कि लालित्य, और हल्के रंग के स्थान में भड़कीले रंग। इन चीज़ों का प्रभाव सूक्ष्म और अनुभवशील मस्तिष्क पर अधिक पड़ता है, विशेषतया ऐसे सीन, जिनमें हत्या और लूटमार दिखाई जाती है। उनके तमाशों में यह भी आपत्ति उठाई जाती है कि एक ही तमाशे में दो विविध प्लाट रक्खे हैं, जिससे दर्शकों का ध्यान तितर-बितर हो जाता है और अंत में भूलभुलैया-सा हो जाता है। बहुधा ऐक्शन के स्थान में पद्य का उपयोग होता है, या उनको केवल वर्णन की सुन्दरता के लिए लिखते हैं, जो नाटक के नियमों के विरुद्ध है। कभी-कभी भद्दी दिल्लगी और प्रहसन का समावेश कर देते हैं, जिससे सीन का प्रभाव जाता रहता है। कभी-कभी घटनाओं के वर्णन में उतावली की जाती है, जिससे ऐक्शन पर बुरा प्रभाव पड़ता है। लेकिन इन सब त्रुटियों के होते हुए आग़ा हश्र एक प्रसिद्ध व्यक्ति थे और उनकी उर्दू नाटक की रचनाएँ ऊँचे दर्जे की हैं।

अन्य कंपनियाँ

उक्त कंपनियों के अतिरिक्त जो और कंपनियाँ स्थापित हुईं उनमें से कुछ प्रसिद्ध के केवल नाम ही लिखे जाते हैं (१) ओल्ड पारसी थियेट्रिकल कंपनी, पिछली शताब्दी के अन्त में स्थापित हुई, जो १९०१ ई० में लाहौर में जल गई, लेकिन अपने मालिक अर्देशेरजी की योग्यता से पुनः स्थापित हुई। (२) जुबली कम्पनी देहली—इसको दिल्ली के एक धनाढ्य आदमी ने अब्बास अली ऐक्टर के प्रबंध में स्थापित किया था। इसमें अब्बास अली गुलरू ज़रीना और जामेजहाँनुमा में पार्ट करते थे (३) भारत व्याकुल कंपनी, मेरठ—इसमें बुद्ध भगवान का तमाशा अच्छा होता था, जो थोड़े दिनों के पश्चात् अहमदाबाद में समाप्त हो गई। (४) इम्पीरियल कंपनी और (५) लाइट आव् इंडिया—इनमें हाफ़िज़ महम्मद अब्दुल्ला और मिर्ज़ा नज़ीर बेग अकबराबादी तमाशा करते थे। अब्दुल्ला के कुछ तमाशों के नाम 'जश्न परिस्तान', 'अंजाम सितम' और 'सितम हामान' इत्यादि और नज़ीर के नाम 'नलदमन', 'बहार इश्क़', 'फ़िसाना अजायब' और 'माहीगीर' इत्यादि हैं।

उक्त नाटक लिखने वालों के अतिरिक्त कुछ और लोगों की रचनाएँ, जो इंडिया आफ़िस में सुरक्षित हैं, उनके नाम ये हैं। गुलाम हुसैन ज़रीफ़ के 'अंजाम सख़ावत', 'बे नज़ीर व बद्रमुनीर', फ़ीरोज़ ख़ां के 'भूलभुलैया', जो

शेक्सपियर का अनुवाद है। अहमदहुसैन वाफ़िर का बुलबुल बीमार। मीर करामतुल्ला, मीर अब्दुल्ला माजिद व मक़सूद अली। अलबर्ट बिल के लेखक उमराव अली, जो उर्दू में सबसे पहला राजनीतिक नाटक है तथा हेमलेट का अनुवाद जहाँगीर।

उन्नीसवीं शताब्दी के अंत के नाटककार

एलकज़ेंडरा थियेट्रिकल कम्पनी के गुलामअली दीवाना। 'ताईद-यज़दानी' और 'महरजिया' इनके तमाशों के नाम हैं। मुंशी मुहम्मद इब्राहीम अंबालवी, यह हश्र के शागिर्द हैं। इनकी पुस्तकें 'आतशी-नाग', 'निगाहनाज़' और 'खुदपरस्त' इत्यादि हैं। मुंशी रहमतअली 'दर्दजिगर' और 'बावफ़ा क़ातिल' के कर्ता। यह पहले अलबर्ट थियेट्रिकल कम्पनी के मैनेजर थे, अब पारसी थियेट्रिकल कम्पनी के डाइरेक्टर हैं। मुंशी द्वारिकाप्रसाद उफ़क़ ने 'राम नाटक' लिखा है जो बहुत लम्बा है। मिर्ज़ा अब्बासअली—'नूरजहाँ' और 'शाही फ़रमान' के लेखक। आग़ा शायर देहलवी (दाग़ के शिष्य) 'हूरजन्नत' के लेखक। लाला किशुन-चन्द ज़ेबा व लाला नानकचन्द नाज ये दोनों पञ्जाबी हैं। इनके ड्रामों में हिंदी शब्द बहुत हैं। लाला कुँवर सेन—यह नाटक के प्रसिद्ध समालोचक हैं। इनका 'ब्रह्मांड नाटक' बहुत अच्छा है। इसमें सितारों का चरित्र दिखलाया गया है। विश्वम्भरसहाय व्याकुल—इनका 'बुद्धदेव' बहुत प्रसिद्ध हुआ। इसमें शांति-रस का अच्छा चित्र खींचा गया है। इसमें अन्य नाटकों की तरह त्रुटियाँ नहीं हैं। यह व्याकुल भारत कम्पनी के कर्ता-धर्त्ता थे, जो मेरठ में स्थापित हो कर बहुत प्रसिद्ध हुई थी। इसके बहुधा ऐक्टर पढ़े लिखे और ऊंचे घरानों के थे। अली अतहर इस कम्पनी का प्रसिद्ध ऐक्टर था। मुंशी जानेश्वरप्रसाद 'मायल' देहलवी ने, जो 'जबान' नामक पत्र के संपादक थे, इस कम्पनी के लिए दो तमाशे 'चन्द्रगुप्त' और 'तेग़े-सितम' के नाम से तैयार किए थे। हकीम अहमद, 'शुजा' 'हज़ार दास्तान' के सम्पादक, एक अच्छे कहानी और नाटकों के लेखक हैं। 'बाप का गुनाह', 'भारत का लाल' और 'जांबाज' इत्यादि के रच-यिता हैं। लेकिन इनके नाटक स्टेज पर अच्छे नहीं मालूम होते। सैयद इम्तियाज़-अली 'अनारकली' और 'दुलहिन' के लेखक। सैयद दिलावर अली शाह का 'पञ्जाब मेल' एक साधारण ड्रामा है। ख़ान अहमद हुसैन का 'हुस्न का बाज़ार'।

बीसवी शताब्दी के कुछ नाटककार

राधेश्याम ने बहुधा धार्मिक नाटक लिखे हैं। सुदर्शन की चर्चा पीछे हो चुकी है।

उर्दू में साहित्यिक नाटकों की बहुत कमी है, फिर भी निम्नलिखित पुस्तकें उल्लेखनीय हैं। शौक़ क़िदवाई-कृत 'मेकफ़रसन' और 'लूसी', शरर का 'शहीद वफ़ा', अजीज़ मिर्जा का 'विक्रमोर्वशी', ज़फ़र अली खाँ का 'रूसो जापान', तफ़ज़्ज़ुल हुसैन का 'तसवीर फ्रांस' और 'जूलियस सीज़र', मुंशी ज्वालाप्रसाद के कुछ नाटकों के अनुवाद, हकीम अज़हर का 'बेदारी'। इनके अतिरिक्त महम्मद उमर और नूर इलाही का 'नाटक-सागर' जो सब देशों के नाटकों का एक विस्तृत इतिहास है। लेकिन कुछ अपूर्ण है। इस अध्याय के लिखने में उससे बहुत कुछ सहायता ली गई है। उन्होंने अनेक नाटकों का उर्दू में अनुवाद किया है। उनकी कुछ पुस्तकें 'रूह सियासत', 'जान ज़राफ़त', 'क़ज्ज़ाक़', 'बिगड़े दिल' और 'ज़फ़र की मौत' है।

साहित्यिक, राजनीतिक और सामाजिक नाटक

सामाजिक ड्रामों में मौलवी अब्दुल माजिद दरियाबादी का 'ज़ूद पशेमान', जिसमें बाल-विवाह की दुर्दशा दिखलाई गई है। पं० ब्रजमोहन दत्तात्रेय कैफ़ी की 'राजदुलारी' और 'मुरारी दादा' प्रसिद्ध हैं। इन दोनों पुस्तकों के विषय में मि० कुंवरसेन लिखते हैं :—

"ये दोनों गद्य नाटक हमारी सामाजिक बुराइयों और घरेलू जीवन के बड़े अच्छे नमूने हैं, इनके लिखने का उद्देश्य नैतिक सुधार है। शिक्षित हिंदुस्तानियों को चाहिए कि इनको आचार का दर्पण समझें। इनमें मध्य श्रेणी की स्त्रियों और पुरुषों के विचार और भावनाओं तथा उनकी त्रुटियों और निर्बलता और उनकी आदतों को बड़ी सफलता के साथ दिखलाया है। वर्णन-शैली बड़ी चोखी, भाषा मुहावरेदार और विचार बड़े पवित्र और स्वच्छ हैं। इनको पढ़ने से मालूम होता है कि जेन आस्टन के उपन्यासों को बरनार्ड शा ने नाटक का रूप दिया है। अलबत्ता योग्य लेखक में इतनी कमी है कि अपने स्वतंत्र विचारों को उसकी तार्किक सीमा तक नहीं पहुँचाया है।"

शरर का 'मेवा तल्ख़' कठोर परदा की बुराइयों पर है। सारांश यह कि वर्तमान समय में अनेक नाटक सामाजिक विषयों पर लिखे जाते हैं जिनमें गुप्त अथवा स्पष्ट रूप से पाश्चात्य सभ्यता का अधिक अनुकरण करने की हँसी उड़ाई गई है

राजनीतिक ड्रामों में मुंशी उमराव अली का अलबर्ट विलसन १८९३ ई० में लाहौर से प्रकाशित हुआ था, जब कि उक्त नाम के बिल पर वाद विवाद हो रहा था तथा एक और नाटक जिसमें कांग्रेस के उद्देश्य का वर्णन किया गया है, राजनीतिक नाटक कहे जा सकते हैं। लेकिन ये कोई रोचक और महत्त्व की पुस्तकें नहीं हैं। असहयोग के समय में भी बहुत से नाम मात्र के नाटक लिखे गए, लेकिन उनमें सिवा मुंशी किशुनचन्द ज़ेबा के 'ज़ख़मी पंजाब' के और कोई उल्लेखनीय नहीं है।

उर्दू नाटक की उन्नति में और लोगों ने क्या भाग लिया

जैसा ऊपर वर्णन किया गया उर्दू नाटक का सूत्रपात 'इन्द्रसभा' से हुआ, लेकिन वह रहस के ढंग पर लिखी गई थी। उसमें न कोई सुव्यवस्थित प्लाट है और न ठीक चरित्र-चित्रण है। उसके पश्चात् 'ज़रीफ़' ने नए ढंग के नाटक की नींव डाली, या कम से कम उसके उन्नति और प्रचार में सहायता की। उनकी पुस्तकों से हिंदुस्तान के विविध विभाग में जहाँ उनके नाटक खेले गए, उर्दू का प्रचार हुआ। लेकिन यदि विचार-पूर्वक देखा जाय तो 'ज़रीफ़' का उद्देश्य केवल मनोरंजन था। उनकी पुस्तकों में साहित्यिक गुण नहीं हैं। उनके प्लाट और चरित्र बहुत ही शिथिल हैं। उनके लेख में उस्तादी नहीं है। गद्य और पद्य दोनों कच्चे हैं। अब्दुल्ला और नज़ीर बैग ने ज़रीफ़ के अनुकरण में अपने तमाशों में दो-दो प्लाट अलग-अलग रक्खे हैं। उनके पश्चात् तालिब और अहसन ने इस कला को उन्नत किया और बहुत-कुछ भाषा भी ठीक-ठाक की। उन्होंने दो प्लाटों को एक कर दिया और उसी में कुछ चरित्रों से विदूषक का काम लिया। अर्थात् कामेडी को भी उसी में मिला दिया। साधारण बातचीत तुकांत गद्य में होती थी और पद्य गीतों के लिए रक्खा गया। कभी-कभी उसको बातचीत में भी प्रभावशाली बनाने के लिए काम में लाया जाता था। गीत अधिकांश हिंदी में होते थे। अब नाटक ओपरा की सीमा से निकल कर ठीक ड्रामा की सीमा में आ गया। चरित्र-चित्रण, ऐक्शन और कहानी की समाप्ति पर अधिक ध्यान दिया गया। तालिब ने सबसे पहले फ़ारसी शब्दों को हिंदी में मिलाया। हश्र ने फिर वही एक कहानी में दो प्लाट रक्खे। बेताब की प्रसिद्धि उनके दो नाटकों,

महाभारत और रामायण से हुई, जिनके चरित्र व्यास और बाल्मीकि से लिए गए थे। उनकी पुस्तकें सबसे उत्तम नाटक कही जा सकती हैं। बेताब की त्रुटियों को विश्वंभरसहाय ने अपने नाटक बुद्धदेव में दूर किया, जिसकी भाषा मुहावरेदार नहीं है लेकिन फिर भी ओजस्वी है। उनमें हिंदी शब्द अधिक हैं। विचार बड़े पवित्र और शैली बहुत चित्ताकर्षक है। मि० कुंवरसेन ने अपनी पुस्तक ब्रह्मांड नाटक में ज्योतिष विद्या अर्थात् ग्रहों से काम लिया है और उसमें बड़ी उस्तादी और योग्यता दिखलाई है। 'नूर वतन' और 'इत्तिफ़ाक़' राजनीतिक नाटक हैं। ऐतिहासिक नाटक का अब रिवाज हो चला है और ये अधिकांश बंगाली उपन्यासों से लिए गए हैं। इनके सिवा हिंदू देवमाला और हिंदुस्तानी इतिहास से भी बहुत कुछ सामग्री मिल रही है। पाश्चात्य नाटकों के भी बहुत अनुवाद हो रहे हैं, इसी से कहा जा सकता है कि उर्दू उन्नति कर रहा है।

उर्दू नाटक के देर में प्रकट होने के कारण हम ऊपर वर्णन कर चुके हैं अर्थात् हिंदी और संस्कृत के नाटकों का ह्रास होना था। इसके सिवा संस्कृत नाटकों के अनुवाद जो बड़े-बड़े योग्य अँग्रेज़ सर विलियम जोन्स, विलसन और मोनियर विलियम्स ने किए थे, वह अँग्रेज़ी में होने से उन लोगों की समझ से बाहर थे, जो उर्दू नाटक लिखते थे और संस्कृत भी नहीं जानते थे और न जानना चाहते थे। अतः उर्दू नाटक का जन्म अंग्रेज़ों के प्रभाव से हुआ। उसके पश्चात् अँग्रेज़ी अनुवाद के द्वारा संस्कृत नाटकों से लाभ उठाया गया।

आरंभ में नाटकों में साहित्यिक गुण न था। वह केवल लाभ के लिए खेले जाते थे। पारसियों ने इसी उद्देश्य से इसको आरंभ किया और जब उनको सफलता हुई तो बहुत से नाटक लिखे जाने लगे, जिनमें हिंदू देवमाला, पुरानी कहानियाँ और अँग्रेज़ी नाटकों के अनुवाद, सभी कुछ थे। तमाशे के उत्तम होने का ध्यान नहीं रक्खा जाता था। किसी पुरानी कहानी को तोड़-मरोड़ कर और उसमें कुछ गीत और कुछ हँसी-दिल्लगी की बातें मिला-जुला कर नाटक तैयार कर लिया जाता था। नाटक लिखने वाले भी अधिक पढ़े लिखे न थे। बहुधा ऐक्टरों में से या जिनको ऐसे तमाशे देखने का शौक़ था, लिखने के लिए चुन

आरंभिक नाटकों की त्रुटियाँ

लिया जाता था। कभी-कभी ऐसे लोग भी रख लिए जाते थे जो मैनेजर की आज्ञानुसार जल्दी-जल्दी तमाशे तैयार कर दिया करते थे। ऐसे ड्रामा में भी यह कमी होती थी कि एक तो भाषा शिथिल होती थी दूसरे पात्र पद्यबद्ध वार्तालाप करते थे, यहाँ तक कि कभी-कभी पूरी ग़ज़ल पढ़ते थे और वह भी साधारण और नीरस होती थीं। पद्य भी बहुत ही बनावटी और अपूर्ण। प्लाट और चरित्र का कहीं पता न था। ऐसे ही ऐक्शन भी बहुत विषम होता था। सब से बड़ी कमी यह थी कि दुखांत और सुखांत जिनका कभी मेल नहीं हो सकता, एक ही प्लाट में मिला दिये जाते थे। सभ्यता की दृष्टि से भी नाटक बहुत ही हीन होते थे और भद्र पुरुषों के देखने योग्य न थे। चुंबन, आलिंगन और अश्लील बातों का प्रचार था, जिसको चार आना टिकट वाले देख कर प्रसन्न होते थे। ऐक्टरेस (खेलने वालियां) अधिकांश निम्न श्रेणी की रंडियाँ होती थीं। वध और रक्तपात के सीन स्टेज पर दिखलाए जाते थे। कामिक पार्ट और नक़लें इत्यादि बहुत ही भद्दी होती थीं। सारांश यह कि कला की दृष्टि से उनके नाटक शून्य थे।

कुछ दिनों के पश्चात् लोगों का ध्यान अँग्रेज़ी नाटकों की ओर आकर्षित हुआ और शेक्सपियर के नाटक लोगों को बहुत पसंद आए। उनमें से बहुधा अनुवाद द्वारा स्टेज पर दिखाए गए। लेकिन सच यह है कि एक में भी असलियत की झलक न थी। वे इतने सर्वप्रिय हुए कि कोई-कोई तमाशों के चार-चार, पाँच-पाँच अनुवाद हुए। इनमें अँग्रेज़ी पात्रों के नाम बदल कर हिंदुस्तानी रक्खे गए, पर वास्तविक चरित्र अनुवादकों की समझ में न आया। जैसे शेक्सपियर के हेमलेट में जहाँ वह अपने मन में बातें करता है, अनुवादक महाशय, अच्छी अँग्रेज़ी न जानने के कारण, तनिक भी नहीं समझ सके। मि० अब्दुल्ला यूसुफ़अली लिखते हैं 'अंग्रेज़ी मंच का प्रभाव हिंदुस्तानी मंच पर उसकी बनावट, सजावट और परदों से पूर्णतया प्रकट है। उर्दू नाटक ने अँग्रेज़ी नाटक का अंधाधुंध अनुकरण दो ढंग से किया। पहले यह कि अँग्रेज़ी नाटक जो 'प्राब्लेम प्ले', (समस्या नाटक) कहलाते थे और जिनका उद्देश्य यह था कि समाज के तमाम रस्मोरिवाज की धज्जी उड़ाई जाय, उनके अनुसरण में उर्दू नाटक ने भी वैसा ही किया। इस मामले में अँग्रेज़ी नाटक ने

उर्दू ड्रामा के साथ वही किया जो इटालियन ड्रामा ने फ्रेंच ड्रामा और फ्रेंच ड्रामा ने रेस्टोरेशन काल के अँग्रेज़ी ड्रामा के साथ किया। दूसरे यह कि अँग्रेज़ी धुनें हिंदुस्तानी थियेटरों में प्रचलित हो गईं लेकिन बहुत ही भोंडे ढंग से और सबसे बड़ा अनर्थ यह हुआ कि इन धुनों के अनुसार साधारण कवियों ने उसी ढग के पद्य लिखे, जिसका परिणाम हास्यास्पद हो गया। जैसे कोई उर्दू पद्य अँग्रेज़ी धुन में गाए और उसमें शब्द टूट-फूट जाँय तो उनका आशय कुछ समझ में न आयेगा। मि० कुँवरसेन ने भी इस विचार का समर्थन किया है। लेकिन हमारी समझ में यह दुर्दशा अँग्रेज़ी प्रभाव के सिवा और बातों से भी हुई है, जिनकी चर्चा ऊपर हो चुकी है। अर्थात् निम्न श्रेणी के ऐक्टरों का होना, नाटक लेखकों की साधारण योग्यता, दर्शकों का बुरे-भले में भेद न समझना और थियेटर के मालिकों का [illegible] लाभ के लिए उनको [illegible] करना, जिससे [illegible]

वर्तमान नाटकों में सुधार और उन्नति

और मराठी नाटकों का बहुत प्रभाव पड़ा। काशी के भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र हिन्दी नाटक लिखने में बहुत प्रवीण थे। वह अपनी कहानियों का प्लाट अधिकांश पुराणों से लेते थे, जो रोचक कथाओं का विशाल भंडार है और यह अब सर्वसम्मत है कि प्लाट की दुरुस्ती और कहानी को सुन्दर बना देने में वह अत्यन्त कुशल थे। वह हिंदी में लिखते थे, अतः उनकी पुस्तकों पर कोई सम्मति प्रकट नहीं की जा सकती। लेकिन हम इतना अवश्य कहेंगे कि उनकी रचनाओं का पीछे उर्दू ड्रामा पर बहुत कुछ प्रभाव पड़ा जैसे 'हरिश्चन्द्र' आदि का। अब उर्दू ड्रामा के विषय बहुत विस्तृत किए जा रहे हैं। उन पुरानी कहानियों के सिवा, जिनका अब तक रिवाज था, बहुत ही रोचक क़िस्से स्टेज पर लाए जाते हैं। राजनीतिक और सामाजिक नाटक भी अब उन्नति कर रहा है। कहानियों की सुन्दरता और उपदेशात्मक होने में बहुत अन्तर हो गया है। प्रेम की नोक-झोंक और मनो-

भाव जो ऐक्शन (भाव) द्वारा दिखलाए जाते थे अब बहुत उत्तम होते हैं। मनोविज्ञान की ओर अधिक ध्यान दिया जाता है। चरित्र-चित्रण और प्लाट में भी बहुत उन्नति हुई है। ऐक्टरों को अपने कामों पर अधिकार होता है। अब पहला-सा बेतुकापन उनमें नहीं है। विचार और शब्दों में स्वच्छता और गंभीरता तथा कहानी के परिणाम पर ध्यान रक्खा जाता है। नक़लों और कामिक पार्टी में वह पहले का ऐसा फक्कड़पन नहीं है, जो सभ्य दर्शकों को नापसंद था। सारांश यह कि पुराने और नए उर्दू नाटकों में अब आकाश-पाताल का अन्तर है।

सुधार और उन्नति की आवश्यकता

लेकिन फिर भी सुधार की बड़ी ज़रूरत है, विशेषतया विचार और भाषा में। शब्दों में डींग न होना चाहिए, बल्कि उनके अर्थ और भाव पर ध्यान देना चाहिए और इसी प्रकार उनमें अधिक बनावट न होना चाहिए, वार्तालाप तुकबन्दी के साथ बेजोड़ मालूम होता है। यथाअवसर सीधी-सादी बातचीत होनी चाहिए। प्लाट की व्यवस्था में अभी सुधार की बहुत जरूरत है। इसके लिए बहुत ही योग्य लेखक होना चाहिए। हँसी-दिल्लगी के समय अश्लीलता और भांडपन से बचना चाहिए। भाषा के सुधार की भी बड़ी ज़रूरत है। अभी हमारे नाटक-कार इस कला के जानकार नहीं है। इसको वही कर सकते हैं जो इसके योग्य हैं और जिनकी स्वाभाविक रुचि इस ओर है। उर्दू ड्रामा की उन्नति का यही साधन है कि योग्य लोगों का उत्साह बढ़ाया जाय और सर्वश्रेष्ठ यूरोपियन और संस्कृत नाटकों के अनुवाद कराए जायँ, जिससे हमारे देशवासियों को नाटक की असलियत और आदर्श मालूम हो और वे देखें कि प्राचीन समय में यह कला कहाँ तक पहुँच गई थी और आजकल के देशों में इसकी उन्नति की क्या दशा है। इसी में से अपने देश और समाज के अनुसार जो चीज़ें उचित हों छांट लें, लेकिन यह न हो कि अनुवाद की भरमार से मूल रचनाएँ दब जाँय। वर्तमान समय की बुराइयों के सुधार के लिए रोचक सामाजिक नाटक लिखे जाँय। इस कला को तुच्छ न समझा जाय और मौलवी लोग इसका विरोध न करें। इन कामों के लिए अधिक उत्साह और संरक्षण की जरूरत है। परदे के रिवाज से हमारे उपन्यासों और नाटकों में जो संकोच पाया

जाता है वह परदा के भंग होने से दूर हो हो सकता है, क्योंकि ऐसी दशा में प्रेम का वास्तविक भाव प्रदर्शन करना असंभव है। ऐक्टर के काम करनेवाले बिरादरी से निकाले न जायँ और नाटक लिखने वाले तथा खेलने वाले अपने पेशे को तुच्छ न समझें।

भविष्यवाणी सदैव सच्ची नहीं होती, लेकिन फिर भी हम यह कहने को तैयार है कि उर्दू नाटक के लिए उज्ज्वल भविष्य है। जैसे मि० अब्दुल्ला

उर्दू नाटक का भविष्य

यूसुफ़अली के कथन से यह अध्याय आरंभ किया गया है, अब उन्हीं के शब्दों से यह समाप्त किया जाता है। वह लिखते हैं :—

"उर्दू नाटक बहुत उन्नति के चिह्न पैदा कर चुका है। शिक्षित और प्रतिष्ठित लोग इसको जातीय उन्नति का एक बड़ा साधन समझने लगे हैं और इसकी उन्नति का निर्दिष्ट स्थान वही होगा जो ईरान में हुआ, जहाँ नाटक की कला से लोग अनभिज्ञ थे। अर्थात् ऐतिहासिक और राजनीतिक नाटकों का लिखना लोग जानते न थे। यह अवश्य है कि शेक्सपियर ने जो नाटक लिखे हैं उनके लिखने के लिए अभी बहुत समय चाहिए। यह याद रखना चाहिए कि उन्हीं के अनुकरण से हिंदुस्तानी में वास्तविक नाटक लिखने की योग्यता होगी, और उसी समय उर्दू ड्रामा दुनिया की अग्रश्रेणी में स्थान पाने का अधिकारी होगा।"

अध्याय ५

उर्दू-भाषा की विशेषताएँ

उर्दू साहित्य की व्यापक रूपरेखा पिछले अध्यायों में दिखलाई गई है। इस अध्याग में अधिकांश उर्दू भाषा के विषय में लिखा जायगा तथा उसकी तुलना दूसरी देशी भाषाओं से की जायगी। इसके संकलन में मौलवी अब्दुलमजीद के उस लेख से सहायता ली गई है, जो 'माडर्न रिव्यू' में प्रकाशित हुआ था।

उर्दू एक परिमार्जित और मधुर भाषा है

सर्वसम्मत से उर्दू एक ऐसी भाषा है जो स्वच्छता, माधुर्य और आशय प्रकट करने के लिए प्रसिद्ध है। वह सभ्य भाषा है और इसमें अति सूक्ष्म विचार प्रकट हो सकते हैं। इसमें दूसरी भाषाओं अरबी, फ़ारसी, तुर्की तथा संस्कृत के विशेष शब्द और अक्षर मिले जुले हैं। अतः उर्दू दूसरी भाषाओं की अपेक्षा शिक्षा के माध्यम बनने और सभ्यता की ज़रूरतों के पूरी करने के लिए अधिक योग्य है।

हिंदू-मुसलिम मेल का चिह्न है

हिंदू और मुसलमान दोनों ने अपनी-अपनी जातीय और देशी भाषाओं को छोड़कर एक तीसरी भाषा अंगीकार करके परस्पर मेल मिलाप का उदाहरण उपस्थित किया है और यह भाषा यद्यपि हिंदुस्तान में पैदा हुई, लेकिन विदेशी साधनों से इसकी उन्नति और विकास हुआ, अतः इससे बढ़कर मेल-मिलाप का कोई और साधन न उस समय था और न अब है।

उर्दू हिस्दुस्तान की सामान्य भाषा है

उर्दू वस्तुतः हिंदुस्तान भर की लिंग्वा फ्रैंका अर्थात् सामान्य-भाषा है, क्योंकि उन स्थानों में जहाँ यह बोली नहीं जाती, अच्छी तरह से समझी जाती है। और भाषाओं का यह हाल है कि केवल अपने-अपने स्थान में बोली और समझी जाती हैं, लेकिन दूसरी जगह उनको समझना कठिन है। जैसे काश्मीर में यदि मराठी, बिहार में गुजराती और सिंध में तामिल बोली जाय तो उसको कौन समझेगा?

लेकिन वह भाषा जिसको हिंदुस्तानी या उर्दू कहते हैं, हर आदमी अपने अनुभव से बतला सकता है कि हिंदुस्तान के कोने-कोने बल्कि सुदूर देशों जैसे अदन, बंदर सईद और मालटा इत्यादि में बेधड़क समझ ली जाती है। इस कथन के लिए हम अपने देशवासियों से क्षमा के प्रार्थी हैं और किसी देशी भाषा की बुराई नहीं करना चाहते, लेकिन सच्ची बात यह है कि अन्य देशी भाषाएँ अधिक से अधिक किसी एक प्रांत की विशेष भाषा कही जा सकती हैं और उर्दू एक अंतर्जातीय और हर प्रांत की भाषा मानी जायगी। समस्त देशी भाषाओं में बहुत से उर्दू शब्द मिल गए हैं और अब और मिलते जाते हैं। अतः अब वहाँ के रहनेवालों को भी जहाँ उर्दू नहीं बोली जाती इसके समझने में कष्ट नहीं होता।

उर्दू एक विस्तृत भाषा है

उर्दू एक बहुत ही विस्तृत भाषा है और इसमें अन्य भाषाओं के बहुत से शब्द मिल गए हैं, जिससे एक बड़ा लाभ यह हुआ कि नए-नए शब्द और परिभाषाएँ बनाने में सुगमता होती है। जैसे आजकल के उर्दू लिखनेवाले यदि पाश्चात्य विज्ञान पर कुछ लिखना चाहें तो वह अरबी, फ़ारसी, संस्कृत और अँग्रेज़ी इत्यादि से शब्द ले सकते हैं और उनको आवश्यक परिवर्तन के साथ अपना सकते हैं। लेकिन खेद के साथ कहना पड़ता है कि आजकल अरबी शब्द अधिक लिए जाते हैं, जिससे उर्दू भाषा पर लांछन लगाया जाता है और उसकी सर्वप्रियता कम होती जाती है।

कुछ योरोपियन विद्वानों की सम्मति

मि० जे० बीम्स 'इंडियन फ़ाइलालोजी' के कर्ता लिखते हैं कि "मैं उर्दू को एक बहुत उन्नति करनेवाली और उस विशाल भाषा का सभ्य रूप समझता हूँ, जो हिंदुस्तान में प्रचलित है। उर्दू न केवल एक विस्तृत, परिमार्जित, अर्थसूचक और परिपूर्ण भाषा है, बल्कि यही एक साधन है, जिसमें गंगा किनारे रहनेवाली जातियाँ अपनी भाषा की उन्नति दिखला सकती हैं" (बंगाल एशियाटक सोसाइटी का जरनल, जिल्द ३५, १८६६ ई०, पृ० १)

प्रसिद्ध फ्रेंच प्राच्य गारसां द तासी लिखते हैं "उर्दू की हिंदुस्तान भर में वही स्थिति है जो फ्रांसीसी भाषा की योरप में। यही भाषा देश में अधिकांश

व्यवहृत है। कचहरियों और शहरों में प्रचलित है, साहित्यिक इसी भाषा में अपनी पुस्तकें लिखते हैं। ऐसे ही संगीतज्ञ अपनी राग रागिनियां इसी में रचते हैं। योरप के लोगों से इसी में बात-चीत की जाती है। कुछ लोगों का यह विचार है कि उर्दू हर जगह के हिंदू लोग नहीं समझ सकते, लेकिन यही दशा हर देश की भाषा की है। जैसे ब्रिटेन के किसान चाहे वे प्राविंशियल हों या अलसटियंस फ्रेंच नहीं समझ सकते। लेकिन कोई कारण नहीं है कि उर्दू कचहरियों और सरकारी दफ़्तरों से उठा दी जाय।"

'इंडिया ऐज़ इट माइट बी' के लेखक जार्ज कैम्बेल लिखते हैं "मेरी समझ में यह उचित है कि समस्त सरकारी स्कूलों में हिंदुस्तानी भाषा प्रचलित कर दी जावे और देशी भाषाएं भी आवश्यकतानुसार रक्खी जायें। यह असंभव है कि बिना किसी सामान्य भाषा के काम चलाया जाय और अँग्रेज़ी को हिंदुस्तान में ऐसी भाषा बनाना कठिन है। अतः हिंदुस्तानी ही को यह पद मिलना चाहिए, जैसा कि ऊपर लिखा गया है कि उर्दू हिंदुस्तान भर की सामान्य भाषा कहलाने के योग्य है, क्योंकि यही भाषा है, जिसको छोटे-बड़े और यहाँ के अँग्रेज़ भी बोलते हैं। इसमें यह गुण है जो किसी दूसरी भाषा में नहीं पाया जाता कि दूसरी भाषाओं के शब्द बिना किसी परिवर्तन या थोड़े से हेर-फेर के साथ अपना लेती है और फिर वह शब्द उसी के हो जाते हैं।"

'हिस्टरी आव् इंडिया' के लेखक मि० विंसेंट स्मिथ अपनी पुस्तक के अंतिम अध्याय में लिखते हैं 'उर्दू भाषा जो हमारी अंग्रेज़ी भाषा से अपनी सादगी, व्याकरण के नियमों की सरलता और शब्दों के बाहुल्य की दृष्टि से बहुत मिलती-जुलती है, अवश्य इस योग्य है कि समस्त मनोभाव चाहे वह साहित्यिक हों, चाहे दार्शनिक और चाहे वैज्ञानिक हों, इसी में प्रकट किए जायँ।"

प्रायः यह कहा जाता है कि उर्दू भाषा में कोई साहित्यिक सामग्री नहीं है, जिस पर उसको गर्व हो और न उसकी उन्नति और विकास का कोई इतिहास है। योरोपियन विद्वानों ने इसकी ओर बहुत कम ध्यान दिया है और हिंदुस्तानी विद्वानों ने उससे भी कम। कुछ लोगों का यह कहना है कि उर्दू भाषा का कुछ अधिक मूल्य नहीं है और जब इसकी प्राचीन और पाश्चात्य उन्नत भाषाओं से तुलना की जाती है तो

उर्दू का थोथापन

और तुच्छ मालूम होती है। इसके दो उत्तर हो सकते हैं। एक यह कि उर्दू कोई पुरानी भाषा नहीं है और किसी नवीन साहित्य से यह आशा रखना कि वह पुरानी भाषाओं को तरह साहित्यिक भंडार से परिपूर्ण हो, बुद्धि के विरुद्ध है। उसका साहित्यिक जीवन-काल फ़ारसी से पृथक् होकर बहुत कम है। दूसरे यह कि यह बहुत होनहार भाषा है। यदि इसकी प्रगति ऐसी ही रही तो थोड़े ही दिनों में यह ऐसे साहित्य से परिपूर्ण हो जायगी, जो दुनिया के श्रेष्ठतम साहित्य से सामना करेगी; और अब भी हिंदुस्तान की प्रचलित भाषाओं में कोई इसकी बराबरी नहीं कर सकती।

उर्दू का साहित्य दो प्रकार का है (१) मूल रचना (२) अनुवाद।

उर्दू साहित्य के विभाग

अनुवाद अधिकांश अँग्रेज़ी, फ़ारसी, अरबी और बहुत कम कभी-कभी हिन्दी, संस्कृत, बंगाली, मराठी और गुजराती से भी किए जाते हैं।

मूल रचनाएँ गद्य, पद्य, उपन्यास और नाटक हैं। पद्य अनेक प्रकार के हैं और बहुत ही सरस हैं। उसमें उपदेश, नीति, प्रेमकथाएँ, मरसिये, ख़ुदा और

रचनाएं

पैगंबर की प्रशंसा, अपने समय के बादशाह की तारीफ़, हजो, प्रहसन और वर्तमान समय की नेचुरल कविता इत्यादि हैं। प्रसिद्ध नए और पुराने शायरों में मीर, सौदा, दर्द, नासिख़, आतिश, ज़ौक़, ग़ालिब, अमीर, दाग़, हाली, इक़बाल, हसरत और अकबर के नाम बड़े गर्व के साथ लिए जा सकते हैं, जिनकी रचनाएं समझने के लिए सुरुचि की आवश्यकता है। इस समय उर्दू पद्य का संग्रह मौलवी महम्मद इलियास बिरनी प्रोफ़ेसर उसमानिया यूनीवर्सिटी हैदराबाद ने नए ढंग से तीन हिस्सों में किया है और प्रत्येक का नाम अलग-अलग रक्खा है, अर्थात् (१) मआरिफ़ मिल्लत, (२) जज़बातफ़ितरत और (३) मनाज़िर क़ुदरत। इन हिस्सों के कुल बारह जिल्दें हैं। यह बहुत ही अच्छा संग्रह है। क्या ही अच्छा हो यदि इसमें कभी-कभी वृद्धि होती रहे।

पद्य में मिर्ज़ा रजब अली बेग सुरूर, सर सैयद अहमद ख़ां, मौलवी नज़ीर अहमद, मौलाना शिबली, मौलाना आज़ाद, प्रोफ़ेसर ज़ुकाउल्ला तथा मौलाना हाली के नाम गिनाए जा सकते हैं और कहानी लेखकों में सरशार,

शरर, रुसवा, राशिदुल ख़ैरी और प्रेमचंद के नाम कौन नहीं जानता !

अनुवाद

अनुवादों का भंडार और भी विशाल है। दुनिया की प्रायः प्रसिद्ध पुस्तकें उर्दू में अनूदित हो गई हैं। जैसे होमर की "इलियड", "महाभारत", "रामायण", "शकुंतला", "मेघदूत", "विक्रमोर्वशी", "ऋतुसंहार", मिल्टन की 'पैराडाइज़ लॉस्ट', टैगोर की 'गीतांजलि' 'चित्रा', 'माली'। इसी प्रकार शेक्सपियर के बहुधा नाटकों का अनुवाद हो चुका है तथा शेरिडन के कुछ नाटक और डांटे, गेटे, लॉगफ़ेलो, सदे, शेली, बायरन, वर्ड्सवर्थ और टेनीसन की कुछ कविताओं के अनुवाद हो चुके हैं। उपन्यास और कहानियों में रेनाल्डस, स्काट, मेरीकोरिली और कोननडायल को लोग अधिक पसंद करते हैं। बंकिमचन्द्र चटर्जी और टैगोर के लगभग सभी उपन्यास उर्दू में आ गये हैं। अभी थोड़े दिनों से स्टीवेंसन, राइडर हैगर्ड, आस्कर वाइल्ड, बनार्ड शा और एच० जी वेल्स को लोग अधिक पसंद करने लगे हैं। गद्य लेखकों में मेकाले, कारलायल, स्माइल्स और लेक की प्रसिद्ध पुस्तकों के अनुवाद हो गए हैं।

दर्शन और मनोविज्ञान में प्लेटो, और अरस्तू की अनेक पुस्तकें तथा चाणक्य की उक्तियां, सेनेका के दार्शनिक विचार, बरकले, बैकन, ह्यूम, कंट, मिल, स्पेंसर, जेम्स और स्टाउट की कुछ पुस्तकें उर्दू में आ गई हैं। इतिहास और जीवनी में प्लूटार्क की यूनानियों और रूमियो की जीवनी एलिन और बेरी के "यूनान का इतिहास", डोज़ो का "स्पेन में मुसलिम राज", वालेस का "रूस का इतिहास", ऐब्टे की "नेपोलियन की जीवनी", ग्रीन का "इंग्लैंड का इतिहास", स्मिथ इल्फ़ेस्टन का "हिंदुस्तान का इतिहास", मलकम का "ईरान का इतिहास", गिबन के "रोम के पतन का इतिहास" इत्यादि पुस्तकें उर्दू में मौजूद हैं।

राजनीति और अर्थ शास्त्र में अरस्तू का "पालिटिक्स", मिल की "लिबरटी" और "पोलिटिकल इकानिमी" इत्यादि, बेल के "संपत्ति का विधान", मोरले का "मेकियावली और संस्मरण", लार्ड कर्ज़न का "परशिया", मेज़ेनी का "मनुष्य का कर्तव्य", लूस्तर का "ईरान की फाँसी", ब्लंट का "इसलाम का भविष्य", इसी प्रकार सीली, बलंट शीली, बिलसन, पोलक, सिजविक, जीवेंस,

मारशल और मोरसिन की कुछ पुस्तकें तथा ग्विज़ों का "सभ्यता का इतिहास", बकल का "इंग्लैंड की सभ्यता का इतिहास", लीबान का "अरब और हिंद की संस्कृति का इतिसास", लेकी का "योरोप का नैतिक इतिहास", ड्रेपर का "योरप के अंतरजातीय विकास का इतिहास", दत्त की "भारत की प्राचीन सभ्यता" और शिक्षा के संबंध में स्पेंसर, बेन, फ्रोहिल पेस्टालोउज़ी, हर्बर्ट और मान्टी-सोरी, विज्ञान में ड्रेपर का धर्म और विज्ञान का संघर्ष तथा डारविन, हेकल, हक्सले, लायक, गीकी, टेनडल, बोस, किलोन, मेक्सवेल कूक और लाज की पुस्तकें उर्दू में आ चुकी हैं। तिब्ब हकीम की पुस्तकों की चर्चा व्यर्थ है, क्योंकि उसकी बहुधा पुस्तकों के अनुवाद हो चुके हैं।

धार्मिक साहित्य

अरब और ईरान का पूरा इसलामी साहित्य और संस्कृत तथा हिंदी का बहुत-सा हिस्सा उर्दू में आ चुका है। धर्म पुस्तकों में कुरान, गीता, पुराण महाभारत, रामायण के एक नहीं अनेक अनुवाद हो चुके हैं। इसी प्रकार धार्मिक नेताओं में महम्मद साहब, श्रीकृष्ण, श्रीरामचन्द्र जी, गौतम बुद्ध, गुरु नानक और कबीर के जीवन चरित्र और प्रसिद्ध संतों तथा इतिहासकारों के वृत्तांत उर्दू में मौजूद हैं। जैसे वशिष्ठ, मौलाना रूम, हाफ़िज़, ग़ज़ाली सादी, शायरों में फ़िरदोसी, हकीमों में बू अली सेना, इतिहासकारों में इब्नख़लकान, इब्नख़लदून और फ़रिश्ता आदि के हालात उर्दू में लिखे गए हैं।

उर्दू साहित्य की उन्नति की संस्थाएँ

इस प्रकार की संस्थाएँ इस समय निम्नलिखित हैं (१) उसमानिया यूनीवर्सिटी, जिसमें दारुल तर्जुमा, अर्थात् अनुवाद का विभाग है (२) अंजुमन-तरक्की उर्दू जो पहले औरंगाबाद में थी, पर अब देहली में है तथा (३) दारुल मुसन्नफ़ीन आज़मगढ़, जिसकी चर्चा पहले हो चुकी है। इनके अतिरिक्त छोटी-छोटी संस्थाएँ उर्दू की उन्नति के लिए दिल्ली, लखनऊ और लाहौर में हैं।

'हिंदुस्तानी एकेडेमी' १९२७ से स्थापित

युक्तप्रांत की सरकार ने उर्दू-हिन्दी साहित्य की उन्नति के लिए एक संस्था इस नाम से स्थापित की है, जिसका उद्देश्य है:—

(१) विशेष उपयोगी विषयों पर सब से उत्तम पुस्तकों के लिए

पुरस्कार देना।

(२) उत्तम और उपयोगी उर्दू-हिन्दी पुस्तकों के अनुवाद कराकर प्रकाशित करना।

(३) उर्दू और हिन्दी की उन्नति के लिए श्रेष्ठ पुस्तकों के लिखवाने और अनुवाद के लिए यूनीवर्सिटियों तथा अन्य साहित्यिक संस्थाओं को आर्थिक सहायता देना।

(४) योग्य लेखकों को एकेडेमी के फ़ेलोशिप (प्रतिष्ठित सभासद) के लिए निर्वाचित करना।

सच पूछिए तो एकेडेमी की स्थापना, तत्कालीन गर्वनर सर विलियम मेरिस की साहित्यिक अभिरुचि और सहानुभूति तथा शिक्षा-विभाग के मंत्री माननीय (अब स्वर्गीय) राय राजेश्वरबली और मुंशी दयानरायन निगम के उद्योग का फल है। इन्हीं महानुभावों के परिश्रम से यह लता पल्लवित हुई है।

उर्दू-लिपि

सुना है कि औरंगाबाद और हैदराबाद में उर्दू लिपि के सुधार के लिए बहुत उद्योग हो रहा है। इसके लिए कमेटियां बनी हैं, जिन्होंने अपने प्रस्ताव उपस्थित किए हैं। लेकिन सुना जाता है कि यह नवीन लिपि-माला नवसिखियों के लिए बहुत ही जटिल, कठिन और उलझाव की है और इससे अशुद्ध पढ़ने और लिखने का बहुत भय है। संभव है कि कुछ इस प्रकार की त्रुटियों के प्रकट करने में कुछ भ्रम हो। लेकिन इतना अवश्य ठीक मालूम होता है कि वर्तमान लेखनविधि में जो त्रुटियाँ हैं उन पर इस कला के विशेषज्ञों का ध्यान अवश्य आकृष्ट हुआ और आशा है कि कभी न कभी वे दूर हो जायँगी।